ध्यान योग

लेखक—

ब्रह्मचारी श्रीकण्ठ चैतन्य

ध्यान योग

... और अनुभव सिद्ध अष्टाङ्ग योग का सातवां अङ्ग

गंगोत्तरी निवासी योगपारंगत आत्मवेत्ता ब्रह्मर्षि स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज के

शिष्य—

बालब्रह्मचारी श्री श्रीकण्ठ चैतन्य जी द्वारा लिखित

प्रकाशक :—

योग निकेतन ट्रस्ट

स्वर्गाश्रम ऋषिकेश, उत्तर काशी,
गंगोत्तरी—हिमालय।

प्रथम बार ५०० सन् १९६४ ६२ नये पैसे

❋ विषय सूची ❋

शुभ कामना और आशीर्वाद

श्री ब्रह्मचारी श्री कण्ठ चैतन्य १८ वर्ष की आयु में ही वैराग्य की भावना से गृह का त्याग कर आसाम-वङ्गीय सारस्वत मठाधिपति श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जी महाराज से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्राप्त कर आत्मज्ञान की जिज्ञासा को लेकर योगियों की तलाश में हिमालय गंगोत्तरी के'योग निकेतन' में आ पहुँचे। हमारे सम्पर्क में सात वर्ष रह कर इन्होंने शास्त्रादि अध्ययन के साथ-साथ योगोक्त यम-नियमों का प्रतिपालन करते हुए धारणा, ध्यान एवं समाधि द्वारा योग में अच्छी प्रगति की है और विशेष ज्ञान भी प्राप्त किया है। आप ५ वर्ष में ही योग-निकेतन के हठ योग के आचार्य बन कर प्रशिक्षण का कार्य करने लगे। आप एकान्त प्रिय, सदाचारी, मितभाषी एवं गुरू तथा ईश्वर के अनन्य भक्त हैं।

आपने इस थोड़े समय में बहुत उन्नति की है और अपनी योग्यता के आधार पर इस 'ध्यानयोग' नाम की लघु पुस्तिका का निर्माण किया है। इस में संक्षिप्त रूप में योग के जिज्ञासुओं के लिये सुगम और सरल उपायों द्वारा आत्मसाक्षात्कार का वर्णन किया गया है जो साधकों के लिये बहुत ही उपयोगी है। एतदर्थ हम आपको बहुत बधाई देते हैं और अध्यात्म विज्ञान के अन्तिम शिखर तक पहुंच कर परम शान्ति एवं अपार आनन्द को प्राप्त हों यही हमारी शुभ कामना है और अनेकानेक आशीर्वाद भी हैं। हमारा पूर्ण विश्वास है कि ये भविष्य में अच्छे लेखक, विद्वान, योगी बन कर अपना और जगत् का कल्याण करेंगे। भक्त वत्सल भगवान आप का कल्याण करें।

शुभ चिन्तक,

स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती

भूमिका

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्व-मिच्छन् ॥ कठो० उ० २-१-१ ॥ स्वयंभू परमात्मा ने हमारी दसों इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इसी कारण मनुष्य मात्र बाहर की ओर ही देखता है, अन्दर अर्न्तात्मा की ओर नहीं देखता। हां उनमें से कोई धीर पुरुष होता है जो अमरत्व या अमृतत्व प्राप्ति की इच्छा से अन्तर्मुख होकर अन्दर को देखता है और मोक्ष की आकांक्षा रखता हुआ इन्द्रियों को बाह्य विषय प्रवृत्तियों से निरोध-रोक कर ध्यान साधन में तत्पर होता हैं। फिर अपने हृदय पुण्डरीक में विद्यमान आत्म ज्योति को अवलोकन करके जीवन को धन्य, कृतार्थ एवं सफल बना लेता है।

वास्व में मानव जीवन का वास्तविक उद्देश्य आत्मिक उन्नति में है। एतदर्थ योगादि साधनानुष्ठान आदि के द्वारा आत्म-कल्याण की आकाक्षा वाले श्रेय मार्ग के पथिकों को चाहिये कि वे ध्यान योग का आश्रय ग्रहण करें। सासारिक तुच्छ वासनाओं तथा वैषेयिक तृष्णाओं के प्रति उदासीन भाव धारण करना सीखें, एवं आत्मिक सम्पदाओं का विशेष महत्व समझते हुए उनके प्रति अधिक रूचि बढ़ावें। दृष्ट संसार के परिवर्तनशील क्षणभङ्गुर भोग्य पदार्थों में स्थायी और अपरिमित सुख शान्ति प्रांप्ति के लिये व्यर्थ वासना एवं कदापि तृप्त न होने वाली मृग तृष्णाओं के समान संसार के विषय सुख की लालसा से भोगों के पीछे भटकते हुए, इस सुर दुर्लभ मनुष्य जीवन को परिसमाप्त करें, और आत्मिक उन्नति की ओर से विमुख होना, मुख मोड़ लेना, कोई बुद्धिमत्ता या दूरदर्शिता का लक्षण नहीं है। प्रत्युत अविवेक पूर्ण मानवता से हीन दानवता का ही परिचायक है। इसका मूल कारण है अज्ञान-

अविवेक। इसी लिये सांख्य दर्शनकार ने कहा है,—"बन्धोविपर्ययात्" ॥ सांख्य० ३-२४ ॥ विपर्ययात् विपर्यय से-ज्ञान के विपरीत अज्ञान, अविवेक से सुख-दुःखात्मक संसार बन्धन होता है। परन्तु पुरुष विषयक विमल तारक ज्ञान का उदय होने पर संसार के बन्धन का नाश होकर कैवल्य प्राप्त होता है। अज्ञान वश संसार के प्राणी आध्यात्मिक, अधिभौतिक और अधिदैविक, इन तापत्रय से सन्तप्त हैं, पीड़ित हैं और साथ ही अविद्या, अस्मितादि क्लेशों से त्रस्त हैं, बन्धे हुए हैं। इन से आत्यन्तिकी निवृत्ति होना पुरुष (आत्मा) का अपवर्ग (मोक्ष) है। स्वकृत कर्म संस्कारों के कारण ही जीव पुनः-पुनः जन्मता मरता रहता है। जैसे शास्त्र में कहा है,-- "संस्कारलेशात्तत्सिद्धिः" ॥ सांख्य० ३-८३ ॥ संस्कार लेश से उसकी सिद्धि है। तात्पर्य यह कि अपने किए हुए कर्मों के संस्कारों के कारण या संस्कार संचित रहने से ही मनुष्यों को जन्म मृत्यु रूप संसार बन्धन में आबद्ध रहना पड़ता है। जब तक इन संस्कारों का दग्धबीज नहीं होता या नाश नहीं किया जाता तब तक "चक्रभ्रमणवद् धृत शरीरः चक्र भ्रमण के तुल्य शरीर धारण करना ही पड़ता है, अर्थात् जन्म मृत्यु का चक्र घूमता ही रहता है। उन संचित संस्कारों का नाश-बीजदग्ध करने के लिये दो उपाय हैं। एक तो भोग, भोग का तात्पर्य कृत कर्मों से संचित संस्कारों के अनुसार सुख दुःखादिकों को भोग--भोग कर परिसमाप्त करना संस्कारों का नाश है। परन्तु भोग भोग कर संस्कारों का नाश करना एक प्रकार से असम्भव ही है। ये तो समाप्त होते ही नहीं, क्योंकि दस पांच संस्कारों के परिसमाप्त होते होते और कई नवीन संस्कार आकर संचित होते रहते हैं, और अनादि काल के असंख्य जन्मों के संचित संस्कार भी पड़े हैं। अतएव भोग द्वारा संस्कारों का नाश करना कदापि सम्भव नहीं है। दूसरा उपाय है विवेक--ख्याति।

विवेकख्याति के द्वारा संचित संस्कारों का भूने धानों की भांति दग्ध बीज माना जाता है । परन्तु विवेक होने पर भी आरब्धोन्मुख संस्कार या क्रियमाण संस्कार ही एक प्रकार से भोग देकर दग्ध हो जाते हैं, अनन्त काल के संचित संस्कार नहीं । विवेकख्याति का तात्पर्य है पूर्व योगाङ्गों का–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं सम्प्रज्ञात समाधि के वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत समाधि अवस्था को भी उल्लङ्घन कर जिस समय से आत्म दर्शन की अवस्था उदित होती है उस काल में दृग् शक्ति और दर्शन शक्ति की भिन्नता बोध के साथ–साथ पुरुष विषयक विवेक उत्पन्न हो जाना ही विवेकख्याति है । उस विवेक ख्याति के साथ–साथ सारे क्लेश एवं सुख दुःखात्मक संस्कार बीज दग्ध हो जाते हैं । विवेक ख्याति के पश्चात् आत्मा जब केवल स्वरूप मात्र में स्थित हो जाता है तब केवल शुद्ध स्वरूप चेतनतत्त्व मात्र स्फुरित रहता है । वही आत्म की स्वरूप स्थिति है, और वही पुरुष का अत्यन्त पुरुषार्थ है । उसके पश्चात् कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है ।

विचार कर देखने पर वास्तव में योग साधन कितना गहन विषय है और विज्ञान सम्मत है विचार शील व्यक्तियों को यह अविदित नहीं । योग आत्म-साक्षात्कार करने के लिये एक अति प्रशस्त मार्ग है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । एतदर्थ मुमुक्षु साधक मात्र को योग साधन का आश्रय लेना अतीव आवश्यक है ।

मैं जब योग की जिज्ञासा लेकर हिमालय में आया और गंगोत्तरीधाम तक जा पहुँचा तो वहां 'योग निकेतन' के संस्थापक हिमालय के विभूति रूप परमसन्त योगपारंगत योगगुरू पूज्यपाद ब्रह्मर्षि श्री स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज (भूत पूर्व

व्यासदेव) जी महाराज को मिला। जिन्होंने वहिरङ्गयोग, आत्म-विज्ञान और ब्रह्म विज्ञान इन महान् ग्रन्थों का निर्माण किया है। जो अध्यात्म विज्ञान का एक अपूर्व शृङ्खला वद्ध संकलन है। वास्तव में वे ग्रन्थ राशि हमारे भारतीय साहित्य के उज्वल गौरव को बढ़ाने वाले हैं इस में किञ्चित मात्र संशय नहीं है।

मैंने पूज्य महाराज जी के सान्निध्य में ६--७ वर्ष तक रह कर जो योग शिक्षा प्राप्त की है, उसके विषय में जो कुछ समझा है या अनुभव किया है उसी के आधार पर प्रारम्भिक साधकों को राज योग में प्रवेश करने के लिये अति संक्षिप्त रुप में इस 'ध्यान योग' की रचना की है। इस में योगाभ्यासियों को सुगमता पूर्वक अति शीघ्र योग में प्रवेश हो सके, इस वात का ध्यान रखते हुए प्रारम्भ काल से लेकर आत्मसाक्षात्कार करने तक क्रम पूर्वक साधन पद्धति का वर्णन किया गया है। यदि विस्तार पूर्वक देखना हो तो श्री महाराज जी रचित ग्रन्थों को पढ़ें। आशा है कि इन रचनाओं से साधकों को अवश्य महान् लाभ होगा।

वसन्त पंचमी।

१९--१--६४ ई०

ब्रह्मचारी श्री कण्ठ चैतन्य

ध्यान योग

प्रथम अध्याय

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसार नाशनम् ।
ऋतं सत्यं पर ब्रह्म सर्व संसार भेषजम् ॥

अब मैं उस ध्यान योग का वर्णन करता हूँ जो इस दृश्यमान संसार का नाश करने वाला है, अर्थात् भव बन्धन से मुक्त करने वाला है। इस संसार बन्ध से छूटने में जो परम औषधि है वह ज्ञान स्वरूप सत्य (नाश रहित) परम ब्रह्म परमेश्वर ही है। उस पर ब्रह्म की वन्दना करके इस 'ध्यान योग' नाम के ग्रन्थ को प्रारम्भ करता हूँ।

ध्यान एक अतीत काल से चला आया अभ्यास है, अर्थात् हमारे पूर्वजों का गुरू परम्परा से चला आ रहा अनादि काल का एक अपरिहार्य अभ्यास है। यदि मानव जीवन को उन्नत बनाना हो, आत्मोन्नति करनी हो, तब तो 'ध्यान योग' ही एक ऐसा अकाट्य व सर्वोत्तम साधन है जो मनुष्य को उस के जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक अर्थात् मोक्ष के शिखर तक पहुँचा सकता है, क्योंकि ध्यान योग अभ्यास के द्वारा ही अन्तर्निहित आत्मिक शक्तियां जागृत होती हैं और वह उसे महान् से महत्तर बना देती हैं।

प्राचीन ऋषि युग की बात है कि एकदा ब्रह्मतत्त्व को जानने की इच्छा वाले ऋषि एकत्र होकर "किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता" इत्यादि वाक्यों द्वारा आपस में पूछने लगे कि इस विश्वब्रह्माण्ड का आदि कारण ब्रह्म कौन है ? वह किस के द्वारा उत्पन्न हुआ ? किस प्रकार से जीवित है ? और किस में वह भले प्रकार से प्रतिष्ठित है ? इस प्रकार आपस में विचार कर जब कोई भी उस प्रश्न का सदुत्तर नहीं दे सका और किसी स्थिर निर्णय पर नहीं पहुँच पाये तब "ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्" वे ध्यान योग में स्थित हो गये, और ध्यान योग में स्थित होकर ही ब्रह्मतत्त्व का विस्पष्ट साक्षात्कार करके अपनी अपनी जिज्ञासा की निवृत्ति की। व्यवहारिक जगत् में भी हम देखते हैं कि न जाने न सुने हुए किसी भी वस्तु या विषयों को अकस्मात् देखकर जब वे जानने अथवा समझने में नहीं आते हैं तब कुछ देर तक एकाग्र चित्त होकर उस पर गहरा विचार या अनुशीलन करने पर सहज में ही हमारे अन्दर उसे जानने या समझने की शक्ति आ जाती है। जब थोड़ी सी एकाग्रता वृत्ति द्वारा ही उस अनजाने विषय या वस्तुओं को हम अनायास जान लेते हैं, तो बहिर्मुखी वृत्तियों को एकाग्र कर के ध्यान योग में स्थित होने पर क्या आत्म-दर्शन या ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति न होगी ? अर्थात् अवश्य होगी, इसमें किंचित मात्र सन्देह नहीं है, क्योंकि शास्त्र में भी कहा है "कौशलादेव परमात्माविलोक्यते" कौशल विशेष के द्वारा ही आत्म साक्षात्कार होता है, अर्थात् ध्यान योग में स्थित हो कर ही अन्तरात्मा का साक्षात्कार करें। ऋषि कहते हैं,-"इहचेद-वेदीदथसत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" ॥ केन० २-५ ॥ यदि इस देह के रहते अथवा इस देह में ही अन्तरात्मा को सम्यक रूपेण जान लिया तब तो अवधि काल तक मोक्ष सुख है ही, परन्तु यदि इस देह के रहते उसे नहीं जाना तब तो महा विनाश ही

समझो, अर्थात् बारम्बार जन्म मृत्यु रूप इस संसार आवर्त में पड़ कर टक्कर खाना ही सार होगा। अतः इस जन्म मृत्यु रूप नाशवान व दुःखमय संसार बन्धन से मुक्त होना अनिवार्य है, अन्यथा दुर्लभ मनुष्य जीवन को प्राप्त करना वृथा ही समझो। उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने का एक मात्र उपाय भी योग है, यथा "अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः" उस ब्रह्मतत्त्व को साक्षात्कार करने का एक मात्र उपाय योग है। अन्यत्र भी कहा है,– 'ध्यान योगेन सम्पश्येद्‌गतिमस्यान्तरात्मनः' ध्यान योग के द्वारा ही अन्तरात्मा का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार होता है। अतः मुमुक्षु जनों को अवश्य ही ध्यान योग परायण होना चाहिये। शास्त्रों में योग के भेद बहुत प्रकार के बतलाएं हैं, जैसे हठयोग, राज योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, मन्त्र योग, लय योग, नाद योग, कुण्डलिनी योग, क्रिया योग, कर्म योग, ध्यान योग, ब्रह्म योग, राजगुह्य योग, विभूति योग, सन्यास योग और मोक्ष योग आदि......। यद्यपि उपर्युक्त प्रत्येक योग साधन अपने-अपने स्थान में एक महत्व पूर्ण विशेषता रखता है तथापि योगवेत्ताओं ने सरल सुगम और आशु फल दायक चार प्रकार के योगों का ही उल्लेख किया है। यथा–"मन्त्र योग लयश्चैव हठोऽसौराजयोगकः" ॥ योगतत्त्वोपनिषद ॥ मन्त्र, लय, हठ और राजयोग,–ये ही योग चतुष्टय नाम से कहे गये हैं, और योगियों को अति शीघ्र योग सिद्धि देनेवाले हैं। इनमें भी सर्वोपरि साधन राजयोग है। राज योग एक राज पथ है, जिस पथ पर चलने से योगाभ्यासी को गिरने का डर नहीं रहता है।

उक्त राज योग के आठ अङ्ग हैं, यथा-"यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" ॥ योग० २--२९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि,–ये योग के आठ अङ्ग हैं। हमारा उद्देश्य यहां केवल

ध्यान योग का ही सविस्तार दिग् दर्शन कराना है; अतः अन्ययान्य योगाङ्गों का वर्णन करना निष्प्रयोजन है। परन्तु ध्यान योग से पूर्व उसके अङ्गों का अभ्यास किए बिना साधक का ध्यान योग में प्रवेश करना असम्भव ही है। इसी लिये ध्यान योग से पूर्व योगाङ्गों का भी संक्षिप्त रूप में वर्णन कर देना आवश्यक है। अन्यथा वृक्ष की मूल (जड़) काट कर शिखर पर जल सिञ्चन करने वाली बात होगी, अथवा उसे यों समझिये कि यदि कोई व्यक्ति ऊँचे मकान की छत पर चढ़ना चाहे तो वहां सीढ़ी की आवश्यकता होगी। यदि वह सीढ़ी से न चढ़ कर ज़मीन से ही छलांग लगानी शुरू कर दे तो क्या वह छत पर चढ़ सकेगा ? नहीं, सिवाय दुःख के और क्या होगा ? आज कल कुछ लोगों की यह धारणा है कि हम से तो इतना कठोर त्याग, तपस्या तथा कृच्छ्र. साधनादि किया जाना सम्भव नहीं है, और न हम स्त्री, पुत्र, धन, परिजनों को ही तिलाञ्जली देकर जंगल में जाकर जंगली जानवरों की तरह वन्य कन्द मूल फल खा कर जीवन निर्वाह कर सकते हैं, न दैहिक शीता-तप का ही सहन कर सकते हैं। हाँ, आसानी से यदि कोई साधु महात्मा हम पर कृपा वश होकर ऐसा छू मन्त्र कर दे कि जिससे तत्काल ही समाधि लग जाय और आत्मसाक्षात्कार करके कृतार्थ हो जायं तब तो ठीक है अन्यथा कठोर नियम संयम पूर्वक रहकर योगादि साधन करना हमारे वश का नहीं है। यदि उन से कोई पूछे कि श्रीमान् जी ! आपने महात्मा की ऐसी कृपा प्राप्त करने के लिये ऐसे सुकर्म भी कभी किए हैं अथवा नहीं ? यदि कदाचित् किसी योगी सन्त ने आपकी समाधि लगा भी दी, तो समाधि दशा में आत्मसाक्षात्कार करने के लिये कठोर त्याग तपस्यादि द्वारा चित्त दर्पण, जिस दर्पण में आप आत्मसाक्षात्कार करना चाहते हैं, उस चित्त दर्पण का कभी परिमार्जन भी किया है अथवा नहीं ? एवं

ऐसी सर्वोत्तम योग स्थिति को प्राप्त करने के अधिकारी भी बन चुके हैं या नहीं ? इसके उत्तर में आप अवश्य कहेंगे कि मैंने उवल एम० ए० पास किया है, क्या मैं योग का अधिकारी नहीं हूँ ? कोई कहेगा मैं अमुक कालेज का प्रोफेसर हूँ, क्या मैं योग का अधिकारी नहीं हूँ ? परन्तु श्रीमान् जी ! इस परमार्थ कोर्ट के न्यायाधीश का विचार व जजमैंट तो उल्टा ही है। अर्थात् प्रभू न तो प्रोफेसरी को देखता है और न एम० ए० को देखता है, वह तो सर्व प्रथम अन्तःकरण की शुद्धता को देखता है—अर्थात् जिसका अन्तःकरण जितना शुद्ध निर्मल व स्वच्छ होगा उतना ही वह अधिकारी कहलावेगा और उसी पर भगवान् की कृपा भी होगी। किसी मनीषी का कथन है कि "विद्यादम्भः क्षणस्थायी धनदम्भो दिन-त्रयम्" इस वाक्य को सुनते ही आप अवश्य ही नाक मुंह सिकोड़ कर तत्काल पूछ बैठेंगे कि यह विपरीत बात कैसे ? जो विद्या दान देने पर भी घटती नहीं प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, फिर विद्यादंभ क्षणस्थायी कैसे ? इसके उत्तर में यही कहना पर्याप्त होगा कि कोई भी विद्वान् विद्यादंभ से कितनी ही छाती फुलाता रहे, सिर ऊंचा उठाता रहे, आंखें लाल-लाल बनाता रहे, परन्तु यदि उससे भी कहीं अधिक विद्वान् आकर उसके सामने बैठ जाय और दंभ की पोल खोले तब उसी समय उसके विद्यादंभ पर पानी फिर जाता है। धन दंभ के विषय में भी ऐसा ही है, अर्थात् दिनत्रय तो क्या यदि अग्नि देवता कुपित हो जाय—अग्नि काण्ड हो जाय, तब तीन घण्टे के अन्दर समस्त धन भस्मसात् हो जाता है। अतः मनुष्य को न तो विद्यादंभ से फूलना चाहिये और न धन दंभ से ही सिर ऊंचा उठाना चाहिये। किसी समय में नारद जी भी सम्पूर्ण वेद वेदाङ्गों को पढ़ कर विद्यादंभ के अभिमान से फूल रहे थे। परन्तु इतना पढ़ने पर भी जब उनके अन्तःकरण में शान्ति नहीं मिली, आत्म-

ज्ञान नहीं हुआ तब विनम्रभाव धारण कर महात्मा सनत्कुमार के पास जाकर नतमस्तक होकर कहने लगा-"अधीहि भो भगवः" भगवन्! मुझे आत्म विद्या का उपदेश कीजिए। तब सनत्कुमार ने पूछा नारद! पहले यह तो बताओ तुम क्या-क्या पढ़े हो? नारद जी ने अपने अधीत का परिगणन करते हुए कहा,-"ऋग्वेदं भोगवोऽध्येमियजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकवाक्यमेकायनं, देवविद्यां ब्रह्मविद्यां, भूत विद्यां, क्षत्र विद्यां, सर्पदेवजन विद्याम्" ॥-छान्दोग्य० ७-१-२॥ मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम वेद, अथर्ववेद और पांचवा वेद इतिहास, पुराण, पित्र्य (वायुविद्या), दैव विद्या, निधि (भूगर्भ विज्ञान), तर्क शास्त्र, एकायन, देव विद्या, ब्रह्मविद्या, भूत विद्या (पंच महाभूत विज्ञान), क्षत्र विद्या (धनुर्विद्या व युद्ध कौशल), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष शास्त्र) सर्प विद्या एवं विष चिकित्सा-ये सब मैंने पढ़े हैं। परन्तु "सोऽहं भगवो मन्त्र विदेवास्मि-नात्मवित" ॥ छान्दोग्य० ७-१-३ ॥ महाराज! इतना सब कुछ पढ़ कर भी मैं मन्त्र व शब्द मात्र का वेत्ता हूँ आत्मविद नहीं हूँ। यह सुनकर सनत्कुमार ने कहा हे नारद! वह सब कुछ शब्दमात्र है। उसके पश्चात् सनत्कुमार ने जब नारद जी को अच्छी तरह से आत्म-विद्या का उपदेश किया तब नारद जी के चित्त रूपी समुद्र में आनन्द की लहरें उछलने लगीं, आत्मानुभूति हुई और शान्ति तथा आनन्द के भागी बने, आत्मवेत्ता कहलाये। उपर्युक्त कथन से आपको यह सूचित किया जा रहा है कि अपरा विद्या में नैपुण्य होने पर भी स्थायी सुख शान्ति या आनन्द प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वे ब्रह्मतत्त्व को परोक्ष रूप में दर्शा देती हैं परन्तु अपरोक्ष रूप में नहीं दर्शा सकती। अतः अपरा विद्या में निःष्णात होने पर भी परा विद्या का आश्रय लेना अनिवार्य है,

क्योंकि-"अथ परायया तदक्षरमधि गम्यते" ॥ मुण्डक० १-५ ॥ परा विद्या के द्वारा ही उस अविनाशी परब्रह्म परमात्मतत्त्व को अपरोक्ष रूप में जाना जाता है अन्य उपाय से नहीं। इसी लिये मुमुक्षु मात्र को परा विद्या में अभिरुचि होनी चाहिये। कारण कि ब्रह्म-तत्त्व केवल बहुत कहने से, बहुत सुनने से अथवा अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि से भी प्राप्त नहीं होता है। वह तो दीर्घ काल तक निरन्तर नियम व श्रद्धा पूर्वक ध्यान योग का अभ्यास करने पर प्राप्त होता है। बहुधा योगाभ्यासी ऐसे भी होते हैं कि कुछ दिन तक योगाभ्यास करने के पश्चात् जब उस में सफलता नहीं मिलती तब उनकी योग के ऊपर अश्रद्धा होने लगती है और अभ्यास छोड़ बैठते हैं, वे महती भूल करते हैं। वह तो ऐसा होगा कि जैसे कोई ब्राह्मण कहता है-'वेद तो चार ही हैं, मेरे बालक को वेद पढ़ने गये आज पांच दिन हो गये अब तक वह वेदज्ञ बन कर नहीं लौटा' ऐसा कहने वाले की मूर्खता होगी। इसी प्रकार १०-१५ दिन में ही योग सिद्धि चाहने वालों का भी ऐसा ही भ्रम होगा। अतएव योग साधन काल में उतावलापन न करना चाहिये, शनैः-शनैः धैर्य धारण पूर्वक अभ्यास करते चले, एक दिन सफलता अवश्य मिलेगी। अतीत काल के ऋषि मुनियों को स्मरण कीजिए जिन्हें कितने ही वर्षों तक कठोर तपचर्यादि द्वारा योगानुष्ठान करने पर भी बहुत काल के पश्चात् अथवा कई जन्मों में जाकर सफलता मिली, इतिहास साक्षी हैं। गीता में भी श्री कृष्ण चन्द्र महाराज ने कहा है,-"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः। अनेक जन्म संसिद्ध स्ततो याति परां गतिम्" ॥ गीता ॥ प्रयत्न पूर्वक उपाय करता हुआ योगी कई जन्मों में उन्नति करके और अच्छी तरह से पापों से प्रमुक्त होकर फिर परमात्मा के ध्यान का अधिकारी बनकर मोक्ष पद को प्राप्त करता है। ध्यान योग परायण योगी के अन्दर एक प्रकार का प्रचण्ड तेज

उत्पन्न होता है जिसे योगाग्नि भी कहते है। वह योगाग्नि योगी के जन्म जन्मान्तरों के संचित पापों को दग्ध कर देती है। जैसे कहा है,-"यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्। भिद्यते ध्यान योगेन नान्य भेदः कदाचन" ॥ ध्यान विन्दु० ३० ॥ हे योगिन्! तुम घबड़ाओं नहीं, पर्वत के समान सहस्र योजना अति विस्तार वाले तुम्हारे संचित पापों का समूह क्यों न हों, ध्यान योग के अभ्यास में डटे रहो, ध्यान योग के प्रभाव से तुम्हारे सम्पूर्ण संचित पाप आमूल नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगे, योगाग्नि से जल कर राख हो जायेंगे। इस में कुछ भी सन्देह नहीं है। इसके अतिरिक्त और किसी तरह उन का नाश नहीं होता है।

साधक बृन्द! आइए अब हम असली कसौटी से काम लें, अर्थात् योग की पहिली सीढ़ी से कदम रखते हुए आगे को बढ़ें। योग की पहिली सीढ़ी है यम। यम पांच प्रकार के हैं, यथा—"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरि ग्रहायमाः" ॥ योग० २-३० ॥ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। इनका क्रम पूर्वक वर्णन निम्न प्रकार हैं।

-- यम --

(१) <u>अहिंसा</u>—"कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा। अक्लेश जननं प्रोक्तात्वहिंसा परमर्षिभिः" ॥ मन, वचन और कर्म द्वारा सदा प्राणी मात्र को दुःख पीड़ा न पहुंचाना इसे महर्षियों ने अहिंसा कहा है। अहिंसा की दृढ़ स्थिति होने पर वन्य पशु, सर्प, व्याघ्र, शार्दूलादि कोई भी प्राणी उस योगी की हिंसा नहीं करता वह सर्वत्र अभय हो जाता है।

(२) सत्य—"सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् । यथार्थकथनाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातीभिः" ॥ सत्य से सब कुछ प्राप्त हो जाता है और सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है । विप्रवृन्द ने यथार्थ कथन व विशुद्ध आचरण को ही सत्य कहा है, अर्थात् जैसा देखा गया है, अनुमान किया गया है एवं सुना गया है ठीक वैसा ही भाव प्रकट कर देना सत्य है, क्योंकि "सत्यमेव जयते नानृतं" ॥ मुण्डक० ३–१–६ ॥ सदा सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं । सत्य दृढ़ हो जाने पर कर्म और कर्म के फल पर अधिकार प्राप्त हो जाता है और "अमोघास्य वाग्भवति" उस योगी की वाणी कदापि झूठ नहीं होती है ।

(३) अस्तेय—दूसरे के धन, वैभव एवं वित्तादि कितने ही मूल्यवान् पदार्थ क्यों न हों, छल, कपट अथवा बलात्कार से अपहरण कर लेना स्तेय है ऐसा न करना अस्तेय है । कहा भी है- "स्तेयमशास्त्र पूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनर स्पृहारूपमस्तेयमिति" ॥ योग० व्यास भाष्यम् ॥ अशास्त्र विधि अर्थात् शास्त्र विरुद्ध उपाय से दूसरे का वित्त द्रव्यादि ग्रहण करना स्तेय (चोरी) है, ऐसा न करना तथा इसके प्रति इच्छा का भी त्याग देना–सर्वथा अभाव हो जाना अस्तेय है । वेद का उपदेश यह है कि–"मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" (हे मनुष्यों !) किसी के धन का लालच कदापि मत करो । अस्तेय प्रतिष्ठित योगी को कदापि किसी भी द्रव्य का अभाव नहीं होता, बिना चेष्टा से अनायास सब कुछ उपलब्ध हो जाता है ।

(४) ब्रह्मचर्य—मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सर्वथा वर्जन कर वीर्य को अवधारण करने का

नाम ब्रह्मचर्य है। तथा च-"ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः" ॥ योग० भोज वृत्ति ॥ उपस्थ इन्द्रिय को संयम पूर्वक रख कर शरीरस्थ शुक्र धातु की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। साधक को चाहिये कि कामोद्दीपक दृश्यों को न देखे, काम सम्बन्धी बातों को न सुने, स्त्री सम्बन्धी स्मरण, गुह्यभाषण व क्रीड़ा करना आदि आठ प्रकार के मैथुनों का सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर सु-वीर्य अर्थात् निरतिशय सामर्थ्य लाभ होता है।

(५) अपरिग्रह---"विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोष-दर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह" ॥ योग० व्यास भाष्यम् ॥ विषय पदार्थों का उपार्जन, संरक्षण, क्षय-हानि, आसक्ति तथा हिंसादि दोष देख कर शरीर निर्वाह के अतिरिक्त द्रव्यों का ग्रहण न करना (दानादि न लेना) अपरिग्रह है। अन्यत्र भी कहा है;-"योगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्" ॥ योग० वाचस्पति टीका ॥ इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होना ही भोग है, और भोग भोगने से पदार्थों में अधिकाधिक अनुराग बढ़ता जाता है। अतः कौशल पूर्वक इन्द्रियों को विषय भोगों से उपरत कर देना चाहिये, क्योंकि यदि भोगों में ही आसक्त हो जाये फिर तो योग हो ही कैसे सकेगा। इसी लिये योगी के लिये देहरक्षातिरिक्त भोग्य पदार्थों को किसी भी प्रकार से स्वीकार न करना ही श्रेष्ठ है। अपरिग्रह की दृढ़ स्थिति हो जाने पर पूर्व जन्म में कैसापन की जिज्ञासा निवृत्ति हो जाती है।

यम का वर्णन करने के पश्चात् अब नियमों का वर्णन करते हैं।

नियम

नियम भी पांच प्रकार के हैं, यथा---"शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" ॥ योग० २-३२ ॥ शौच,

सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये पांच नियम हैं।

(१) शौच—"शौचं द्विविधं" शौच दो प्रकार के होते हैं, "बाह्याभ्यन्तरं च" बाह्य और अभ्यन्तर। "बाह्य मृज्जलादिभिः कायादि प्रक्षालनम्। अभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालनम्" ॥ योग० भोज वृत्ति ॥ मृत्तिका और जल से काय, वस्त्र, पात्र व स्थानादिक मार्जन व प्रक्षालन आदि करके पवित्र रखना एवं नेती, धौती, वस्ती तथा नित्य नियमित शुद्ध सात्विक आहार से शरीर को स्वस्थ रखना एवं शोधन करना बाह्य शौच कहलाता है। राग, द्वेष, असूया, घृणा तथा ईर्ष्यादि चित्त मलों को मैत्री, करुणादि पवित्र भावनाओं से दूर करना आभ्यन्तर अर्थात् चित्त का शौच है।

(२) सन्तोष—स्व-स्व कर्तव्य कर्मों का प्रतिपालन करते हुए प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ भी वित्त लब्ध होवे, उसी में सन्तुष्ट रहना और किसी भी प्रकार की तृष्णा न रखना सन्तोष है। "सन्तोषस्तुष्टिः" नाम सन्तोष का है। जिस अवस्था में हो, जिस परिस्थिति में हो, कामना, वासना वर्जित होकर प्रसन्न चित्त बना रहना सन्तोष है। सन्तोष से निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है।

(३) तप—"तपो द्वन्द्वसहनम्" द्वन्द्वों का सहन करना तप है, अर्थात् भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखों को सहन करना, खड़ा होकर तपस्या करना और समासीन होकर समाधि लगाना, बिलकुल न बोलना तथा प्रयोजनानुसार बोलना, कृच्छ्रचान्द्रायण सन्तपनादि व्रतों का यथा योग्य प्रतिपालन करना तप कहलाता है। "तपसा वै लोकं जयन्ति" तपस्या के द्वारा ही योगी लोग लोक लोकान्तरों को जीता करते हैं। तथा चोक्तं—"तपसायुजाविजहि

शत्रुन्" ॥ ऋ० १०–८३–३ ॥ हे तापसो ! तुम अपने परम मित्र रूप, तप के द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो । तप से मानव क्या कुछ नहीं कर सकता है ? अर्थात् सब कुछ कर सकता है ।

(४) स्वाध्याय—वेद, उपनिषद, दर्शन तथा पुराणादि अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान वर्द्धक आर्ष ग्रन्थों का यथा नियम अध्ययन और "प्रणव पूर्वाणांमन्त्राणां जपः" प्रणव ॐ कार सहित गायत्री आदि पवित्र मन्त्रों का यथा रीत्या जप करना स्वाध्याय कहलाता है ।

(५) ईश्वर प्रणिधान—परमेश्वर की भक्ति विशेष को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं । "तस्मिन् परमगुरौ सर्व कर्मार्पणम्" फल सहित सब कर्मों को उस परमेश्वर में अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है । इस प्रकार करने से परम गुरू ईश्वर प्रसन्न होकर साधक को अभिलषित फल (मोक्ष) प्रदान करता है ।

द्वितीय अध्याय

—आसन—

अब आसनों का वर्णन करते हैं। आसन का अभिप्राय दुःखोत्पादन के बिना स्थिर व सुख पूर्वक दीर्घ काल तक एकासन पर बैठना आसन है। जैसे कहा है,—"स्थिर सुखमासनम्" ॥ योग० २–४६ ॥ हिलने-डुलने से रहित स्थिरता पूर्वक एक ही आसन पर दीर्घ समय तक बैठने को आसन कहते हैं। योगशास्त्र में योगासनों का वर्णन बहुत मिलता है, उनमें चौरासी आसन मुख्य व प्रसिद्ध माने जाते हैं। उक्त चौरासी आसनों में से भी ध्यान, समाधि, अभ्यास के लिये स्वस्तिक, सिद्ध और पद्मासन, इन तीन आसनों को ही प्रमुख माना गया है। अतः उपर्युक्त तीन आसनों का ही यहां वर्णन करते हैं।

(१) स्वस्तिकासन—पहले पावों को सामने रख कर इस प्रकार से बैठे कि बाये पांव को घूटने से मोड़ कर एड़ी अण्डकोष के दक्षिण पार्श्व में रखे। फिर दाहिने पांव को भी मोड़ कर बांये पांव के ऊपर इस प्रकार से जमा लें कि दोनों पाद तलवे एक दूसरे की जाँघ का स्पर्श करें। हाथों को जानुओं के ऊपर ज्ञान मुद्रा लगा कर रक्खें या ब्रह्माञ्जली लगायें अथवा दोनों हाथों की उंगलियों को परस्पर गूँठ कर गोद में रख लें।

(२) सिद्धासन—दाहिने पांव की ऐड़ी गुदा और अण्ड कोष के बीच में इस प्रकार से जमा लें कि उसका तला बांयी जाँघ का स्पर्श करे। इसी प्रकार से बांये पांव की ऐड़ी को जननेन्द्रिय के मूल पर इस प्रकार से दृढ़ता पूर्वक लगा लें कि उसका तला दायीं जाँघ का स्पर्श करे, और पांवों की ऊँगलियां जंघों तथा पिण्डलियों के बीच में स्थापित करके सिर, कण्ठ, कटि और मेरूदण्ड को सीधा करके बैठें।

(३) पद्मासन—दोनों पाँवों को दोनों जंघों पर व्युत्क्रम से स्थापित करके समकाय विशिष्ट होकर बैठने को पद्मासन कहते हैं।

इन में से किसी भी आसन से साधकों को रुचि के अनुसार दीर्घ समय तक बैठने का अभ्यास बना लेना चाहिये। यह ध्यान योग का प्रसंग होने के कारण बाह्य योगाङ्गों का केवल संक्षिप्त रूप में उल्लेख मात्र किया जा रहा है, विस्तार से नहीं।

—प्राणायाम—

योग शास्त्र के अनुसार प्राणायाम का लक्षण इस प्रकार है, यथा—"तस्मिन्सति-श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" ॥ योग० २–४९ ॥ बाह्य देशास्थ वायु को नासिका के नथनों के द्वारा अन्दर प्रवेश करना श्वास और कोष्ठस्थित वायु को नासिका के नथनों के द्वारा बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है, अर्थात् श्वास की गति को रेचक, पूरक और कुंभक द्वारा बाह्याभ्यन्तर दोनों ओर रोकना प्राणायाम है प्राणायाम का अभ्यास करने से पहले नाड़ी शुद्धि करने की परमावश्यकता है। नाड़ी शोधन किए बिना प्राणायाम का अभ्यास-ठीक-ठीक सम्पादन नहीं हो सकेगा, क्योंकि नाड़ी शोधन न करने से नासिका रन्ध्रों में जो मल ठहरा होता है

जिसके कारण श्वास प्रश्वास का रेचक, पूरकादि सुगमता पूर्वक सम्पादन न होकर व्यतिक्रम हो जाता है। अतएव योगाभ्यासी को प्राणायाम का अभ्यास करने से पूर्व अवश्य ही नाड़ी शोधन कर लेना चाहिये। सहित, सूर्यभेदी, चन्द्रभेदी, प्लावनी, भस्त्रिका, भ्रामरी और वाह्याभ्यन्तर कुंभक आदि प्राणायामों का सभी ऋतुओं में निःसंकोच अभ्यास कर सकते हैं। हां, शीतली कुंभक और सीत्कारी प्राणायाम का अभ्यास हेमन्त और शिशिर ऋतु में अधिकाधिक न करना चाहिये। यथा नियम प्राणायाम का अभ्यास करने से शारीरिक व मानसिक दोनों ओर लाभ होता है। इसी लिये योग शास्त्र में कहा है,—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" ॥ योग० २–५२ ॥ प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश (ज्ञान) पर के आवरण जो अविद्यादि क्लेश हैं, क्रमशः क्षीण होते-होते सर्वथा नाश हो जाते हैं। ज्ञान का पर्दा अज्ञान नष्ट हो जाने पर ज्ञान रूप सूर्य चमकने लगता है। आगे पुनः कहा है,—"धारणासु च योग्यता मनसः" ॥ योग० २–५३ ॥ प्राणायाम के यथोचित अभ्यास से मन में धारणा की योग्यता आ जाती है। जहाँ चाहे मन को केन्द्रित करने की शक्ति आ जाती है। अन्यत्र भी कहा है,— "प्राणायामेन सिद्ध्यन्ति दिव्याः शान्त्यादय क्रमात्। शान्तिप्रशान्ति ततः परम्" ॥ वायवीय संहिता ॥ प्राणायाम से शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति अर्थात् प्रकाश एवं कितने ही दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। अतः साधक को अवश्य ही अति यत्न पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।—"तपो न परं प्राणायामात्ततोविशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्चज्ञानश्चेति" ॥ योग० व्यास भाष्यम् ॥ प्राणायाम से बढ़ कर और कोई तप नहीं है, इस से अन्तःकरण के मलों की प्रशुद्धि होती है और ज्ञान की ज्योति बढ़ती है। अतएव योगाभ्यासी मात्र अवश्य ही यथा विधि प्राणायाम का अभ्यास करें।

—प्रत्याहार—

अब प्रत्याहार का वर्णन करते हैं। भोग्य विषयक पदार्थों में आसक्त इन्द्रियों को सब ओर से हटा कर उनका निग्रह कर लेना प्रत्याहार है। जैसे कहा है,—"इन्द्रियाणांनिग्रहश्चवशीकरणम् स्वेच्छानुविधायीकरणमितियावत्" ॥ विज्ञान भिक्षु ॥ अर्थात् अत्यन्त चपलता युक्त इन्द्रियों को अपने वश में करना उन्हें अपनी इच्छा की अनुवर्तिनी बना लेना ही उनका निग्रह है। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोगाभाव में बुद्धि के स्व स्वरूप का अनुकरण रूप कार्य प्रत्याहार है। स्वभाव से विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को हठ व बल पूर्वक विषयों से लौटा कर बुद्धि में बांध देना प्रत्याहार है।

यम नियम से लेकर प्रत्याहार तक योग के जो पांच अङ्गों का वर्णन किया गया है उसे बहिरङ्ग कहते हैं, और धारणा, ध्यान तथा समाधि अन्तरङ्ग हैं। यथा—"त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः" ॥ योग० ३–७ ॥ धारणा, ध्यान व समाधि रूप यह त्रिक सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्ववर्ती यमादि पांच (बहिरङ्ग) साधनों से अन्तरङ्ग है।

-- धारणा --

धारणा की परिभाषा योग शास्त्र में इस प्रकार से कही है—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" ॥ योग० ३–१ ॥ चित्त वृत्ति को किसी देश विशेष में बांध देना धारणा है। जिस देश में ध्येय का चिन्तन करना हो उसी देश में चित्त वृत्ति को ठहराना-स्थिर करना धारणा है। भाष्यकार ने धारणा के लिये निम्न कथित स्थानों का उल्लेख किया है। यथा—"नाभिचक्र हृदयपुण्डरीकेमूर्धनिज्योतिषिनासि-काग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु बाह्ये वा विषये चित्तस्यवृत्ति मात्र बन्ध इति धारणा" ॥ योग० व्यास भाष्यम ॥ नाभि चक्र (मणिपुर-

चक्र), हृदय कमल, मूर्धा, ज्योतिर्मय अंश (ब्रह्मरन्ध्र) नासिका का अग्रभाग, जिह्वा का अग्र भाग इत्यादि स्थानों में अथवा किसी बाह्य विषय–समुद्र की उत्ताल तरङ्गों में अथवा हिमाच्छादित शैल शिखर पर चित्त की वृत्तियों को स्थिर करना या चित्त को बांध देना धारणा के पश्चात् ध्यान का प्रारम्भ होता है, ध्यान बहुत ही ऊंची स्थिति है, एतदर्थ उक्त स्थिति प्राप्ति के लिये साधकों को कुछ नियमों का प्रतिपालन करना अत्यावश्यक होता है, अन्यथा आसुरी वृत्ति में रहने से उक्त योग स्थिति को प्राप्त होना एक प्रकार असम्भव सा ही है। इस लिये प्रत्येक साधक को निम्नलिखित योग चर्या का यथोचित प्रतिपालन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

– योग चर्या –

(१) ध्यान योग का अधिकारी—जो ब्रह्म तत्त्व का जिज्ञासु हो तथा स्वरूप स्थिति प्राप्ति की इच्छा वाला और यम नियमादि योगाङ्गों का पूर्ण अभ्यासी व साधन। चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षु साधक ध्यान योग का अधिकारी है।

(२) आहार शुद्धि—योगी का आहार सूक्ष्म (स्वल्प मात्र) सात्विक, स्निग्ध होना अनिवार्य है। मादक द्रव्य, शराब, भंग, सुल्फा, सिगरेट, बीड़ी, मिर्च, खटाई, मांस, मछली और गरम मसाला आदि उत्तेजक, गरिष्ट, कोष्ट बद्धता कारक एवं कफ वर्द्धक तथा तीक्षण पदार्थों का कदापि सेवन नहीं करना चाहिये।

(३) शरीर शोधन—योगी के लिये सदा ही शरीर शोधन अर्थात् शरीर को शुद्ध पवित्र रखना परमावश्यक है। नेती, धौती, वस्ती तथा शंखप्रक्षालनादि यौगिक क्रियाओं के द्वारा सप्ताह में

एक बार अवश्य ही पेट साफ कर लेना चाहिये । अन्तड़ियों में पुराना मल न रहने पावे और न कब्जी ही रहे। प्रतिदिन नियत समयानुसार स्नानादि करना चाहिये। शीत काल में एक बार स्नान करना पर्याप्त है और ग्रीष्म काल में दो बार । स्नान करते समय इस प्रकार की भावना करें कि यह मेरा शरीर भगवान् का मन्दिर है, अतः उसका नित्य ही मार्जन प्रक्षालनादि करना मेरा कर्तव्य है।

(४) दुर्व्यसनों का त्याग—योगाभ्यासी मात्र कुसंग, मैथुन, क्रोध, शोक, भय, संशय, अन्धविश्वास, छल, कपट, झूठ तथा आलस्य प्रमादादिकों को सर्वथा त्याग कर देवें।

(५) ध्यान में बैठने का नियम—भोजन के बाद भर पेट रहते कदापि ध्यान में न बैठना चाहिये, न अति क्षुधार्त होकर बैठना चाहिये क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं में मस्तिष्क गत ज्ञान वाहक तन्तुओं में हानि पहुंचने की सम्भावना रहती है। अतएव ध्यान में बैठने से ४ या ३ घण्टे पूर्व ही भोजन समाप्त कर लेना चाहिये। हां, सामान्य जलपानादि एक डेढ़ घण्टे पूर्व भी कर सकते हैं।

(६) ध्यान करने का स्थान—ध्यान का अभ्यास शुद्ध पवित्र स्थान में करना चाहिये। जहां कूड़ा-कर्कट व दुर्गन्धादि न हो और जो शीतातप आदि से रक्षित हो। ऐसा स्थान न हो कि जहां सर्प, व्याघ्र, शार्दूल तथा बिच्छू आदि हिंसक जानवरों का भय हो, अर्थात् सब प्रकार के भय से सुरक्षित सब उपद्रवों से रहित तथा कोलाहल शून्य होना अत्यावश्यक है। जैसे भागीरथी के किनारे, नर्मदा तट, हिमालय के गुहा कन्दराओं में या निर्जन एकान्त रम्य स्थान पर, अथवा देव मन्दिर आदि पवित्र स्थानों पर योगाभ्यास

करना सर्वोत्तम है । उपनिषद में भी कहा है कि—"समेशुचौ-शर्करावह्निवालूका, विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षु पीड़ने, गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्" ॥ श्वेता० २–१० ॥

ऐसे स्थानों में ध्यान योग का अभ्यास करना चाहिये कि जो सम हैं, शुद्ध हैं, कंकड़, बालू और अग्नि भय से रहित हैं, । जहां शब्द, जलाशय और विविध प्रकार के वृक्ष गुल्म लतादि से सुशोभित व मन के अनुकूल है, जो आंखों को पीड़ा देने वाला नहीं है । सब ओर से एकान्त एवं वायु के झोकों से रहित है ऐसे स्थानों में योगाभ्यास करना चाहिये । यदि ऐसा मन के अनुकूल स्थान न भी मिले तो न सही, उसके लिये शास्त्रकार युक्ति देते हैं,–"यत्रैकाग्रतातत्राविशेषात्" ॥ ब्रह्म सूत्र० ४–१–११ ॥ जहां चित्त एकाग्र हो सके उसी देश में समासीन होकर ध्यान समाधि का अभ्यास करे या ब्रह्मोपासना करे । इसके लिये किसी काल या देश विशेष की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ध्यान समाधि का सम्बन्ध केवल चित्त वृत्ति निरोध से है न कि देश काल आदि से । अतः जहां मन एकाग्र हो सके उसी देश या स्थान पर योगाभ्यास करें ।

(७) वाक् संयम—योगी के लिये वाक् संयम करना अत्यावश्यक है । बिना प्रयोजन के बकवास करना, झूठ बोलना योगाभ्यासियों के लिये सर्वथा वर्जित है । यदि अत्यन्त प्रयोजन हो अथवा किसी ने कुछ पूछा हो, तो थोड़े शब्दों में मधुर वाणी से उसका सदुत्तर देना चाहिये और सब समय मौन रहें ।

(८) ध्यानाभ्यास का समय—ध्यानाभ्यास के लिये सर्वोत्तम समय ब्राह्ममुहूर्त है, अर्थात् उषा काल से पूर्व ३ बजे से

६ बजे तक प्रातःकाल ध्यान अभ्यास का समय है। समय मिले तो मध्याह्न काल में भी ध्यानाभ्यास करलेना चाहिये। सायं काल में सूर्यास्त से लेकर रात्रि नौ दस बजे तक ध्यानाभ्यास का समय है। हाँ, समाधि-निष्ठ योगी के लिये कोई भी समय नियत नहीं किया गया है, क्योंकि समाधि दशा में योगी को न तो घड़ी यन्त्र का ज्ञान रहता है और न दिन रात का ज्ञान रहता है, अतः उसके लिये सब समय समान हैं।

(९) धैर्य—भयंकर विपत्ति में भी एक रस बना रहना धैर्य है। चाहे कैसा भी संकट उपस्थित क्यों न हो मानसिक विकलता या चंचलता का सर्वथा परित्याग करके लक्ष्य में अटल दृढ़ निष्ठा बनाये रखना धैर्य है। साधकों को चाहिये कि कुछ महीनों या कुछ वर्षों तक योगाभ्यास करने पर भी यदि उसमें सफलता न मिले तो हतोत्साह या धर्यच्युत न हों, धैर्य धारण पूर्वक साधना में लगे रहना चाहिये। बच्चा उठ कर खड़ा होने के लिये प्रयत्न करता रहता है, गिरता रहता है, परन्तु अभ्यास नहीं छोड़ता, तभी तो किसी न किसी दिन उसे दौड़ने, कूदने-फांदने में सफलता मिलती है। इसी प्रकार साधक को भी चाहिये कि एक बार सफलता न मिलने पर त्यक्त मनोरथ न हों, धैर्य धारण पूर्वक लगे रहिये एक दिन अवश्य सफलता मिलेगी।

(१०) गुरू का प्रयोजन—प्रायः साधक ऐसे भी हैं जो बिना गुरू निर्दिष्ट साधन पथ ग्रहण किए अपने मन माने साधनों का अनुष्ठान करते रहते हैं। अशास्त्रीय विधि होने के कारण जब उसमें सफलता नहीं मिलती अथवा मनोरथ पूर्त्ति नहीं होती है तब पश्चाताप करते हुए दुःखी होकर रह जाना पड़ता है यह-अनुचित है। इसी लिये मुमुक्षु साधक को गुरू निर्दिष्ट साधनानुसार

साधनानुष्ठानी होना अनिवार्य है अन्यथा प्रयत्न व्यर्थ जायेगा। यह भी बात है कि ध्यान काल में यदि अन्तर्जगत् का कुछ-कुछ चमत्कार दिखाई देने लगे या अतीन्द्रिय पदार्थों की यथार्थ अनुभूति होने लगे, तो उसके अभिमान से गर्व न करना चाहिये और न उसे जन साधारण के समक्ष प्रकट ही कर देना चाहिये, क्योंकि उससे साधक को अनेक विघ्न उपस्थित हो सकते हैं।

—ध्यान—

अब ध्यान का वर्णन करते हैं जो इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। धारणा की परिपक्व अवस्था का नाम ध्यान है। जिस देश में धारणा परिपक्व की गयी हो उसी देश में तैलधारावत् एकतान्ता अर्थात् एक प्रत्यय का प्रवाह चलना ध्यान है। जैसे कहा है,—"तत्रप्रत्ययैकतानताध्यानम्" ॥ योग० ३–२ ॥ जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय, उस ध्येय वस्तु में चित्त का केवल ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का चलना, उसके बीच में और किसी भी प्रकार की दूसरी वृत्ति का न उठना ध्यान है। एकतान्ता का तात्पर्य एक-सा बना रहना, अर्थात् उस ध्येय आलम्बन वाली वृत्ति का समान प्रवाह से लगातार उदय होते रहना और किसी अन्य वृत्ति का बीच में न आना, अर्थात् जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से निरन्तर उदय होती रहे और बीच में कोई दूसरी वृत्ति न आये, तब उसको ध्यान कहते हैं। साधक को इस बात का अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये कि ध्यानाभ्यास के पहले अथवा साथ-साथ आसन का दृढ़ अभ्यास बना लें, क्योंकि आसन का दृढ़ाभ्यास हुए बिना साधक को ध्यान में सफलता प्राप्त होना असम्भव है। इस लिये ध्यानाभ्यासी को कम से कम तीन घण्टे तक के आसन का अभ्यास अवश्यमेव होना चाहिये। समाधि

की इच्छा वाले को तो छः से १० घण्टे तक अवश्य ही दृढ़ अभ्यास बना लेना चाहिये । ध्यानाभ्यास के लिये उपयोगी आसन योगियों के लिये मृग चर्म अथवा व्याघ्र चर्म के आसन का व्यवहार करना सब से उत्तम है। तदभाव में कम्बलासन या रुई की उपयुक्त गद्दी बैठने के लिये बना लेनी चाहिये । आसन स्वस्तिक, सिद्ध व पद्मासन अथवा अन्य किसी भी आसन का दृढ़ अभ्यास बना लेवें, आसन पर इस प्रकार से बैठे कि मेरूदण्ड बिलकुल सीधा रहे और हाथों को जानुओं पर रक्खे। बैठते समय किसी भी प्रकार की शारीरिक क्लिष्टता बोध न होनी चाहिये और नसों पर तनाव न पड़े, न बिलकुल ढीला ही छोड़ देवें, क्योंकि ढीला छोड़ देने से झुक जाने की सम्भावना रहती है । अतएव स्वाभाविक स्थिति में बैठें।

आसन बढ़ाने का उपाय

अब आसन बढ़ाने का उपाय बतलाया जाता है,— "प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्" ॥ योग० २-४७ ॥ शरीर की स्वाभाविक चेष्टा का नाम प्रयत्न है, उस स्वाभाकिक चेष्टा से अङ्गमेंजयत्व (शरीर प्रकम्पनादि) के रोकने के लिये उपरत होना प्रयत्न की शिथिलता है, और अनन्त्य में अर्थात् वृत्ति की तद्रूपता के हो जाने पर आसन सिद्ध होता है। शरीर को प्रयत्न (चेष्टा) शून्य और मन को व्यापक विषय वाला करके आसन में बैठना चाहिये। इस प्रकार देह और मन को क्रिया रहित कर देने से देह का अभ्यास (देह भान) छूट जाता है एवं उससे भूला जैसा होकर अधिक से अधिक समय तक स्थिरता के साथ सुख पूर्वक बैठा जा सकता है। अनन्त्य समापत्ति का तात्पर्य यह है कि चित्त वृत्ति रूप से अहर्निश परिच्छिन्न पदार्थों में ही घूमता रहता है। उन विषय पदार्थों की परिच्छिन्नता के कारण वह अस्थिर रहता है ।

अपरिच्छिन्न आकाशादि में जो अनन्तता है, उसमें चित्त को तदाकार कर देने से चित्त विषयों से रहित निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है। तात्पर्य यह कि उस अन्त हीन वैपुल्यता (अनन्तता) में अवगाहन करना ही तृष्णार्त की परम तृप्ति है। टीकाकार ने भी कहा है,-"यदा चाकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेनतादात्म्यमापद्यतेतदादेहाहंकाराभावान्नासनं दुःख जनकं भवति" ॥ योग० भोजवृत्ति" ॥ जब आकाश आदि में रहने वाली अनन्तता में चित्त को व्यवधान रहित तदाकार किया जाता है, तब उसकी तद्रूपता प्राप्त हो जाने पर शरीराभिमान का अभाव हो जाता है और देह की सुध (भान) न रहने से आसन दुःख का उत्पादक नहीं होता है।

ध्यान के पहले आसन बद्ध होकर १०-१५ मिनट -तक त्राटक करना अत्यावश्यक है । त्राटक स्फटिक मणि या गुरु के चित्र अथवा अपनी इष्ट देव मूर्त्ति में करना उत्तम है । त्राटक करने से दृष्टि इधर-उधर से हट कर एक मुखी हो जाती है, मन की वैषयिक चंचलताएं हट जाती हैं और इन्द्रियां भी शान्त समाहित हो जाती हैं । त्राटक कर लेने के पश्चात् आंखें मूंद लेनी चाहियें, क्योंकि आंखें खुली रहने से बाह्य वस्तुयें मन की वृत्ति को आकर्षण कर सकती हैं। अतएव आंखें मूंद करके ही ध्यान करना प्रशस्त है। इसके पश्चात् आप दृढ़ संकल्प कर लीजिए कि मैंने ध्यानाभ्यास के लिये जो थोड़ा बहुत समय निकाला है उस समय में सिवाय ध्यान के और कोई भी संकल्प-विकल्प एवं सांसारिक चिन्ताओं को आने नहीं दूंगा-केवल ध्यान ही करूंगा। बाह्य चिन्ता के लिये बीसों घण्टे पड़े हैं। ध्यान काल में इस प्रकार दृढ़ संकल्प कर लेने के उपरान्त एक इस प्रकार की अवस्था लाईए कि

जिसे हम जाग्रत सुषुप्ति भी कह सकते हैं, अर्थात् निरालम्ब सी अवस्था में स्थित होने का प्रयत्न करें। अपना अस्तित्व का भान होते रहने पर भी मन में किसी भी प्रकार का संकल्प-विकल्प उदय न हो, उस काल मन को विलकुल निर्विषय करके शून्य सी अवस्था में स्थित करने का प्रयत्न करें। शास्त्र में भी कहा है,-"ध्यानं निर्विषयं मनः" ॥ सांख्य० ६-२५ ॥ मन का विषयों से शून्य होना ध्यान है। ध्यान काल में मन को विलकुल विषयों से हटा कर निर्विषय व शून्य सी अवस्था में स्थिर करना ध्यान है। यदि उक्त अवस्था में मन नहीं ठहरता, उतावलापन अधिक बढ़ने लगे तो हताश न होकर किसी भी मन्त्र का मानसिक जप प्रारम्भ कर देना चाहिये। जैसे 'ॐ' कार मन्त्र, इष्ट मन्त्र अथवा गायत्री मन्त्र आदि किसी भी मन्त्र का आप जप कर सकते हैं। कुछ मिनट जप करते रहने पर जब वृत्ति कुछ स्थिर होने लगे-शान्त भाव धारण करने लगे तब जप स्थगित करके पुनः पूर्वोक्त निरालम्ब सी, शून्य सी अवस्था को लाने के लिये प्रयत्न करते रहिये। इस प्रकार करने से कुछ देर के पश्चात् मन तथा इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को छोड़ कर निश्चेष्ट मानों निश्चल भावापन्न होने लगेंगी। वही ध्यान की पूर्वावस्था है। जब उपर्युक्त प्रयत्न से मन तथा इन्द्रियों का निग्रह हो जाये और एक प्रकार की मस्ती की सी अवस्था आने लगे, तो समझिए कि ध्यान लगाने का शुभ मुहूर्त उपस्थित है। अतः विलम्ब न करके बिना दैहिक क्लिष्टता का बोध किए धीरे से भ्रूयुगल से डेढ़ अंगुल ऊपर अन्दर की ओर जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं उक्त स्थान में ध्यान दृष्टि को लगाइए और वहां देखिये क्या कुछ विलक्षणता लिये किसी भी प्रकार की ज्योति की अनुभूति होती है या नहीं, अथवा कुछ लघु सा प्रकाश या किसी भी रंग की दिव्य ज्योति जगमगाती हुई दिखाई देती है या नहीं। यदि कुछ भी

दिखाई नहीं देता या अनुभव में नहीं आता किंवा इस प्रणाली से ध्यान करने में आपको अति दुर्वोधता या कठिनता मालूम पड़े तो हतोत्साह न हो जायें। शास्त्रकारों ने उसके लिये अत्यन्त सुगम उपाय बतलाया है मूर्त ध्यान का अभ्यास, जिसे सगुण ध्यान भी कहते हैं।

यद्यपि परमेश्वर आकार-प्रकार, नाम-रूपादि से रहित है, निर्गुण निराकार है, परन्तु जब हम उनको उपासना का विषय बनाते हैं तब कुछ न कुछ आकार तथा रूप की कल्पना अवश्य करते हैं, क्योंकि निराकार पदार्थ धारणा, ध्यान एवं उपासना का विषय नहीं बन सकता । इसी लिये हम किसी मूर्त पदार्थ में ब्रह्मतत्त्व को आरोप करके उसको उपासना का विषय बनाते हैं। योग सूत्रकार ने उसको प्रणव नाम से पुकारा है, यथा–"तस्य वाचकः प्रणवः" ।। योग० १-२७ ।। उस परमेश्वर का वाचक अर्थात् अभिधायक शब्द–नाम प्रणव है, जिस से अपने आराध्य की स्तुति की जाये वह ओंकार है अन्यत्र भी कहा है,–'ओमिति ब्रह्म' "ॐ" वह ब्रह्म है। "अमृतं वै प्रणवः" वह प्रणव ही अमृत है। "ब्रह्म हवै प्रणवः" प्रणव ही ब्रह्म है। उपनिषद् आदि में प्रणव को ही उद्गीथ भी कहते हैं। जैसे कहा है,–"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ-मुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति"...।। छान्दोग्योपनिषद ।।

ओंकार रूप इस अक्षर उद्गीथ को निश्चय पूर्वक सेवन करें अर्थात् उपासना करें। जिस ओंकार को उच्चारण करते हुए वेद पाठी सामवेद अर्थात् सामगान करता है।

पूर्वोक्त उद्गीथ की उपासना उपनिषद आदि ग्रन्थों में अति विस्तृत रूप में वर्णित होने के कारण उसे यहां उद्धृत करना सम्भव नहीं है; एतदर्थ यहां एक अति सरल एवं सुगम सी उपासना का ही वर्णन करते हैं।

पहले ध्यानासन पर बैठ जाईए, उसके पश्चात कल्पना कीजिए कि आकाश विदीर्ण कर एक ज्योतिर्मय मण्डल, उसके मध्य केन्द्र में 'ॐ' कार कोटि सूर्य के समान ज्योतियों से दमक रहा है। उसकी विमल दिव्य ज्योति से सम्पूर्ण आकाश मण्डल देदीप्यमान हो उठा है। उस प्रणव को ही ब्रह्मतत्त्व का प्रतीक मान कर उनकी बोधक संज्ञा "ॐ" कार का मानसिक जप करते हुए उक्त ज्योति स्वरूप ब्रह्म के ध्यान में तन्मय हो जायें, और कल्पना करें कि उससे जो अति दिव्य शक्तिपूर्ण ज्योतियां निःशरण हो रही हैं वह मेरे शरीर के ऊपर तीव्र वर्षा के रूप में बरस कर अन्दर प्रवेश कर रही हैं और मेरे प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गों में प्रवेश कर रही हैं। मेरे जो पाप, ताप, क्लेश, अविद्या, मल-विक्षेप, दुर्गुण, अपवित्रता एवं जन्मान्तरों के स्वकृत कर्म संस्कार संचित हैं, वे उक्त दिव्य तेज पूर्ण ज्योति के ताप से कुछ तो भस्मिभूत हो रहे हैं और कुछ निकल भाग रहे हैं, और मेरा शरीर शुद्ध पवित्र व दिव्य हो रहा है। इस प्रकार ध्यान में तन्मयता आने पर जप अपने आप छूट जाता है केवल ध्यान मात्र अवशेष रह जाता है। साधक यदि उपर्युक्त क्रम से बहुत दिन तक उसका अभ्यास करता रहे तो उसकी ध्यान दृष्टि उस कल्पित ज्योतिर्मण्डल में ही सीमाबद्ध न रह कर एक अचिन्त्य ज्योतिर्मय अन्तर्जगत् में प्रवेश कर जायेगी। वहां अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुभूति करने लगेगी। तब मूर्त ध्यान का अभाव होकर स्वयमेव ही अमूर्त—निर्गुण ध्यान में प्रवेश हो जायेगा। यही मूर्त ध्यान की संक्षिप्त व्याख्या है।

—योग के १४ विक्षेप—

साधक को इस बात का भी ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि योग साधन काल में अनेक प्रकार के योग विघ्न उपस्थित होकर

योगी की ऊंची से ऊंची योग स्थिति को भंग कर देने लगते हैं। अतः विक्षेपों को हटाना अत्यावश्यक है अन्यथा योग सिद्धि असम्भव है। विक्षेप ये हैं,–"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्त विक्षेपा स्तेऽन्तरायाः' ॥ योग० १–३० ॥ योग साधन में लगे हुए साधकों के चित्त में विक्षेप उत्पन्न करके साधन मार्ग से विचलित करने वाले यह व्याधि स्त्यानादि नौ योग के विघ्न माने गये हैं। उनका क्रम पूर्वक वर्णन निम्न प्रकार है।

(१) व्याधि—शरीर में रोग उत्पन्न हो जाना, इन्द्रियों में विकलता उत्पन्न हो जाना और धातुओं में वैषम्यता आजाना व्याधि है।

(२) स्त्यान—चित्त की अकर्मण्यता, अर्थात् इच्छा होनेपर भी योगाङ्गों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होना स्त्यान है। अथवा मन का हरण होना या चुराया जाना स्त्यान है।

(३) संशय—क्या पता मैं योग साधन कर सकूंगा या नहीं, करने पर भी उसमें सफलता मिलेगी या नहीं, इस प्रकार के सन्देह को संशय कहते हैं।

(४) प्रमाद—समाधि तथा विवेक ख्याति के लिये योगाङ्गों का नियम पूर्वक अभ्यास न करना प्रमाद है।

(५) आलस्य—तमोगुण की अधिकता से चित्त तथा शरीर में भारीपन आ जाने से ध्यान समाधि में चित्त या शरीर का न लगना आलस्य है।

(६) अविरति—भोग्य पदार्थों में भोग भोगने की तृष्णा बनी रहने से वैराग्य का अभाव हो जाना अविरति है।

(७) भ्रान्तिदर्शन—ध्यान तथा समाधि अवस्था में अतीन्द्रिय तत्त्वों को कुछ का कुछ समझना भ्रान्तिदर्शन है, अर्थात् तत्त्वों का यथार्थ साक्षात्कार न होकर अन्य भ्रान्तिमूलक दृश्यों को देखना भ्रान्तिदर्शन कहलाता है।

(८) अलब्ध भूमिकत्व—अभ्यास की न्यूनता के कारण योगानुष्ठान करते रहने पर भी योग की उच्चतम भूमियों का प्राप्त न होना अलब्ध भूमिकत्व है।

(९) अनवस्थितत्व—योगानुष्ठान से समाधि भूमि को पा करके भी उसमें चित्त का न ठहरना अर्थात् ध्येय का साक्षात्कार होने से पूर्व ही समाधि का छूट जाना अनवस्थितत्व है।

उपरिकथित नौ विक्षेपों के साथ होने वाले दूसरे विघ्न भी आकर उपस्थित हो जाते हैं, अतः उन्हें भी हटाना परमावश्यक है। विक्षेप ये हैं,—"दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-सहभुवः" ॥ योग० १-३१ ॥ दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास—ये पूर्वोक्त विक्षेपों के साथ साथ होने वाले हैं।

(१) दुःख—दुःख तीन प्रकार के होते हैं,—आध्यात्मिक, अधिभौतिक और अधिदैविक, वे ही दुःख हैं, इन्हें त्रिताप भी कहते हैं। इन दुःखत्रय से मुक्त होने को त्रिताप मुक्ति कहते हैं।

(२) दौर्मनस्य—अपनी व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति न होने पर अन्तः करण में क्षोभ उत्पन्न हो जाना दौर्मनस्य है।

(३) अंगमेजयत्व—शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में प्रकम्पनादि होने से आसन स्थिर न होना अंगमेजयत्व है।

(४) श्वास—प्राणायाम का अभ्यास न करने से ध्याना-भ्यास काल में व्यतिक्रम से श्वास का चलना श्वास है। जैसे खांसी और दमे से होता है।

(५) प्रश्वास—यह भी प्राणायाम का अभ्यास न करने से नथनों में मल ठहरे रहने के कारण प्रश्वास का बाहर निकलते समय शब्द होना प्रश्वास कहलाता है। प्रतिशय, निमुनिया, छाती में कफ जमने से भी शब्द होकर विक्षेप होता है।

पूर्वोक्त विक्षेप और उपविक्षेपों का जो वर्णन किया गया है वे निम्न भूमि वाले अर्थात् विक्षिप्त चित्त वालों को ही अधिकतर हुआ करते हैं। उच्च भूमि वाले अर्थात् एकाग्र चित्त वालों को नहीं होते हैं। अब उक्त विक्षेपों को हटाने का उपाय योग सूत्रकार अग्रिम सूत्र में बतलाते हैं। यथा–"तत्प्रतिषेधार्थ मेकतत्त्वाभ्यासः" ।। योग० १-३२ ।। पूर्वोक्त विक्षेप और उपविक्षेपों को दूर करने के लिये एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। भाष्यकार ने भी कहा है,–"विक्षेप प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत्" ।। योग० व्यास भाष्यम् ।। (उपर्युक्त) विक्षेपों के निवारणार्थ (योगी) चित्त को ऐसा बना देवे कि वह केवल एक ही तत्त्व पर निर्भर करे। किसी-किसी टीकाकार ने एक तत्त्व का अर्थ ईश्वर लिया है, वही मान्यता समीचीन जान पड़ती है। जैसे कहा है,–"एकतत्त्वम् ईश्वरः" ।। योग० वाचस्पति टीका ।। ईश्वर ही एकतत्त्व है, अर्थात् एक मात्र ईश्वर में निर्भर करने से ईश्वर की अनुकम्पा या अनुग्रह से साधकों के समस्त विक्षेप दूर हो जायेंगे उसमें किञ्चित् मात्र भी

सन्देह नहीं हैं। अतएव साधक की वृत्ति केवल ईश्वराभिमुखी होनी चाहिये। इसकी पुष्टि के लिये निम्न योग सूत्र उद्धृत करते हैं, यथा–"समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्" ॥ योग० २-४५ ॥ ईश्वर प्रणिधान से योग साधन में आने वाले विघ्नों का नाश होकर शीघ्र ही समाधि-सिद्धी हो जाती है।

प्रिय साधक वृन्द ! आप अब मूर्तध्यान का मूलभूत तात्पर्य समझ गये होंगे, अब अमूर्त सूक्ष्म ध्यान की ओर बढ़िये। यद्यपि स्थूल शरीर का साक्षात्कार करना भी मूर्तध्यान के अन्तर्गत आ जाता है तथापि वह अति विस्तृत होने के कारण अमूर्त–सूक्ष्म ध्यान के प्रसंग में ही वर्णन किया जायेगा। अब सावधान होकर पूर्व कथित विधि अनुसार ध्यान में स्थित होकर ध्यान दृष्टि को मस्तिष्क गत ब्रह्मरन्ध्र में धीरे से लगाईए। वहां यह देखने के लिये प्रयत्न करें कि उक्त स्थान में किसी भी प्रकार का प्रकाश या ज्योति किसी भी रूप में दिखाई देती है या नहीं। ध्यान की दृष्टि में अति तीव्र जोर न लगाईए, मधुर सी दृष्टि डालिये, क्योंकि जोर लगाने से प्रथम आप को सिर दर्द महसूस हो सकता है। परन्तु उससे घबराईए नहीं। ध्यान काल में जब सिर दुखने लगे तब तुरन्त ही ध्यान स्थगित कर देना चाहिये और शान्त चित्त होकर शून्य सी अवस्था में स्थित हो जाना चाहिये। ध्यान काल में सिर दर्द होना कोई विशेष विघ्न कारक तो नहीं है परन्तु विक्षेप अवश्य है। कारण कि अनभ्यस्त होने के कारण प्रारम्भिक अभ्यासी को ध्यान काल में मस्तिष्क गत ज्ञान व गति बाहक तन्तुओं पर जोर पड़ने से घबराहट सी होकर विकम्पन हो उठता है जिसके कारण अभ्यासी को सिर पीड़ा महसूस होने लगती है। अतएव प्रारम्भिक अभ्यासी को ध्यान में अधिक जोर न लगाना चाहिये, धीरे से मधुर सी दृष्टि डालनी चाहिये और बीच–बीच में शून्य सी अवस्था में स्थित

हो जाना चाहिये । इस प्रकार बारम्बार प्रयत्न करते रहने पर यदा-कदा खद्योत की चमकवत् अथवा बिजली की चमकवत् और कभी-कभी धुंधला सा प्रकाश दिखाई देने लगेगा । यदि इस प्रकार का प्रकाश दिखाई देने लगे तो उस समय उतावलापन न करके धैर्य धारण पूर्वक पहिले उस प्रकाश या ज्योति को स्थिर करने की कोशिश करें और यह जानने का प्रयत्न करें कि वह ज्योति कहां से उत्पन्न हो रही है, किस पदार्थ की है और किस स्थान पर है । यदि प्रारम्भिक किसी अभ्यासी को ध्यान काल में ज्योति उत्पन्न नहीं होती है, तो समझिए कि उसका कोई विशेष कारण है, क्योंकि ब्रह्मरन्ध्र गत पदार्थों का दर्शन आपको एकदम झट से नहीं होगा । यहां पर क्यों का प्रश्न करना व्यर्थ होगा, क्योंकि "नीहारेण आवृता" वे तत्त्व निहारिका से ढके हुए हैं इस कारण से दिखाई नहीं पड़ते हैं, अर्थात् कोहरे के समान एक आवरण पड़ा है । रजस तमो गुण से उत्पन्न यह अज्ञानान्धकार रूप एक पर्दा लगा हुआ है जो सत्वगुण के प्रकाश से भेदन करने योग्य है । उसके अन्दर और एक आवरण अर्थात् पर्दा लगा हुआ है जो पंचतन्मात्रिक मण्डल का है । इस की विस्तृत व्याख्या आगे की जायेगी । अब आप ध्यान दृष्टि को कुछ तीव्र कर दीजिए और उस कोहरे के पर्दे को विदीर्ण करते हुए उसे भेदन कीजिए और ध्यान दृष्टि को अन्दर प्रविष्ट कर दीजिए । अत्यन्त समाहित चित्त होकर यह देखने के लिये प्रयत्न करें कि कहां किस प्रकार का प्रकाश या ज्योति उत्पन्न हो रही हैं । यदि ललाट देश में एक लघु सा प्रकाश अर्थात् ज्योति पुञ्ज दिखाई दे तो पहले उसे स्थिर करने का प्रयत्न करें और अत्यन्त शान्त भाव से उस ज्योति पुञ्ज पर ध्यान जमाएं । वही आपका दिव्य चक्षु है, जिसे तृतीय नेत्र, दिव्य चक्षु, शिवनेत्र आदि नाम से भी कहते हैं ।

यही दिव्य चक्षु आपको तीनों शरीरों और स्थूल भूतों से लेकर अलिंग प्रकृति तक अथवा भू लोक से लेकर ब्रह्म लोक तक के जितने भी दिव्य, अदिव्य, ऐन्द्रिय, अतीन्द्रिय पदार्थ विद्यमान हैं उन सब को विस्पष्टतया दिखाने में समर्थ होगा। अतः पहले आप उस ज्योति को स्थिरता के साथ-साथ अति तीव्र दीप्ति युक्त भी कीजिए और उसी का कुछ दिन तक अभ्यास करते रहिये अर्थात् परिपक्व कीजिए। आत्मा तीन शरीर व पांच कोषों से आवृत है। आत्मा का पहला आवरण है कारण शरीर--आनन्दमय कोष। द्वितीय आवरण है सूक्ष्म शरीर–विज्ञानमय और मनोमय कोष। मनोमय व विज्ञान मय ये दोनों कोष सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत हैं। तीसरा आवरण है यह स्थूल शरीर--प्राणमय और अन्नमय कोष। अन्नमय व प्राणमय दोनों कोष स्थूल शरीर के अन्तर्गत हैं, अर्थात् अन्नमय कोष और प्राणमय कोष मिल कर स्थूल शरीर कहलाता है। मनोमय और विज्ञान मय कोष मिल कर सूक्ष्म शरीर कहलाता है। अन्तिम आनन्दमय कोष को कारण शरीर कहते हैं। योग आरोहण क्रम से चलता है, अर्थात् स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना होता है, इस लिये पहले स्थूल शरीर के विज्ञान बिना सूक्ष्म शरीर के विज्ञान में सफलता कदापि नहीं मिल सकती है। उदाहरणार्थ किसी बालक को सुई पुराना सिखाना हो तव अनायास ही महीन सुई व डोरे से आरम्भ न करके पहिले मोटी सुई डोरे फिर उसकी दृष्ट शक्ती पढ़ती जाने पर अधिक, अधिकतर, अधिकतम महीन सुई डोरे से कार्य लिया ज़ाता है। एतदर्थ पहले स्थूल शरीर का स्पष्ट विवेचन करके फिर उसका साक्षात्कार कैसे किया जायगा उसकी विधि बतलाई जायगी।

तृतीय अध्याय

स्थूल शरीर और उसका साक्षात्कार

शरीर विज्ञान बहुत ही विस्तृत है, अतः साधक को सम्पूर्ण शरीर विज्ञान की जानकारी के लिये डाक्टरी ग्रन्थ अथवा शरीर विज्ञान आदि ग्रन्थों में शरीर के विभिन्न भागों का विवरण देख लेना चाहिये। यहां ग्रन्थविस्तारभय के कारण मुख्य-मुख्य कतिपय स्थानों का ही उल्लेख किया जाता है। जैसे सिर, ग्रीवा, वक्षःस्थल, कटि और पादमूल से लेकर पादतल तक--ये ही पांच मुख्य स्थान हैं।

मानव देह के रक्त, मांस, त्वचा, वसा एवं सौत्रिक जाल के नीचे जो कठोर सा अस्थियों का व्यूह (ढांचा) है उसे ही कंकाल या अस्थि पंजर कहते हैं। लग-भग २०६ छोटी मोटी अस्थियों से उक्त देह पंजर बना हुआ है। उसी अस्थि पंजर के रक्त मांसादि संश्लिष्ट नाड़ी जाल व सूक्ष्म तन्तुओं से संगठित होकर यह देह सुडौल बना हुआ है एवं त्वचा से सम्पूर्ण शरीर आवृत है। उस रक्त मांस अस्थि तथा मूत्रपुरीष पूर्ण शरीरस्थ बाहरी त्वचा की लावण्यता को देख कर केवल मनुष्य ही नहीं क्षुद्रादपिक्षुद्र जीव भी अत्यन्त मोहित हो जाता है, एक दूसरे के प्रेम से बंध जाता है, एक के वियोग से हृदय में तूफान मच जाता है। परन्तु रक्त मांसादि से रहित अस्थि पंजर किस को प्यारा लगता होगा, किसी को नहीं। तभी तो किसी मनीषी ने कहा था "आत्माज्ञानमयः पुण्य देहो मांसमयोऽशुचिः"

अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वरूप है, शुद्ध है, परम पवित्र है, और देह रक्त मांसादि से युक्त अपवित्र नाशवान् है। जैसे वेद में भी कहा है,–"भस्मान्तँ शरीरम्" ॥ यजु० ४०-१५ ॥ यह स्थूल देह सदा नहीं रहेगा भस्म होने वाला है अर्थात् नाशशील है। अतः उससे प्रेम करना मानों अविद्या की शरण में जाना है, क्योंकि अनित्य में नित्यत्व, अपवित्र में पवित्रता देखना, दुःख में सुख की अनुभूति होना ही तो अविद्या है, योग शास्त्र में इसी को अविद्या नाम का क्लेश कहा है। इसी लिये विवेकी लोग दैहिक ऐश आराम के लिये किसी प्रकार की भी चेष्टा न करके केवल आत्मसुख प्राप्ति के लिये ही बहुधा उपाय करते रहते हैं। यहां एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि जब सबका लक्ष्य केवल आत्म-दर्शन करना ही है अथवा आत्म प्राप्ति ही है तब आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये–आत्मा में ही ध्यान लगाना चाहिये, अपवित्र शरीर के विभिन्न स्थानों में ध्यान लगाने का तात्पर्य क्या है ? इस शंका के निराकरणार्थ यही कहना पर्याप्त होगा कि आत्मा के ऊपर तीन शरीर और पांच कोषों के आवरण पड़े हैं, उन आवरणों का सम्यक् ज्ञान हुए बिना अथवा उन्हें साक्षात्कार करके भेदन किए बिना आत्मलाभ नहीं होता, क्योंकि सब की बुद्धि इतनी सूक्ष्म नहीं होती जो इतने आवरणों को भेदन कर "अणोरणीयान" आत्मा को ध्यान काल में झट से पकड़ या देख लेवे। जैसे कि कोई व्यक्ति किसी मशीन के विज्ञान को सीखने जाता है तो जाते ही उसे इन्जन आदि चलाने नहीं देते, पहले स्थूल से स्थूल कामों में लगाते हैं। जब शनैः-शनैः उसकी बुद्धि सूक्ष्म होने लगती है या उस विज्ञान को समझने लगता है तब उसे इंजन आदि चलाने की आज्ञा मिलती है, उसके पहले नहीं। इसी प्रकार प्रारम्भिक अभ्यासी को स्थूल शरीर का ज्ञान करना आवश्यक है अर्थात् शरीराभ्यन्तरिक क्रियाओं के तारतम्यों को

साक्षात्कार करना होगा, उससे धारणा परिपक्व होगी। धारणा परिपक्व होने पर ही आत्मा का दर्शन होगा उसके आगे पहिले नहीं। अब पूर्वोक्त स्थूल शरीर के प्रमुख स्थानों का वर्णन करते हैं।

—अन्नमयकोष के पांच मुख्य स्थान—

(१) सिर—इस में श्रोत्र, कर्ण, नासिका, मुख, ललाट, भ्रू, तालु और काकशुण्डिका आदि मुख्य स्थान हैं।

(२) ग्रीवा—कण्ठ के पृष्ठ भाग को ग्रीवा कहते हैं। ग्रीवा के अग्रभाग में स्वर यन्त्र अर्थात् टेंटुआ है। सम्पूर्ण शरीर से संश्लिष्ट नस नाड़ियां जो शीर्ष स्थान तक फैली हुई हैं सूक्ष्म और तन्तु भी उसके साथ सम्मिलित हैं।

(३) वक्षःस्थल—वक्ष के भीतर दोनों पार्श्व भाग में दो फुफ्फुस हैं जहां से प्राण शुद्ध होकर सम्पूर्ण शरीर का पोषण कार्य करता है। मध्य भाग में हृद्देश है। वक्षःस्थल के पृष्ठ भाग को पीठ या पृष्ठवंश कहते हैं जहां मेरुदण्ड का मुख्य स्थान है, उसमें कशेरुकाओं का संश्लेष हैं।

(४) कटि प्रदेश—उदर के पृष्ठ भाग को कटि प्रदेश कहते हैं। कटि देश के अग्र-भाग में नाभि ग्रन्थि है, नाभि के उपरि भाग आमाशय, पक्वाशय, यकृत, प्लीहा और छोटी बड़ी आंते हैं। नाभि के नीचे मूत्राशय तथा अण्डकोश हैं। योग शास्त्र के अनुसार नाभि स्थानीय कुक्कुटाण्ड के परिमाण कन्द से असंख्य नाड़ियों की उत्पत्ति हुई है। जैसे कहा है,—"तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनि पुङ्गव ! कन्दमध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता ॥ ५ ॥ तिष्ठन्ति परितस्तस्यानाड़यों मुनिपुङ्गव । द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्या-

श्चतुर्दश ॥ ६ ॥ सुषुम्ना पिंगला तद्वदिडा चैव सरस्वती । पूषा च वरूणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी ॥ ७ ॥ अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी तपस्विनी । शङ्खिनीचैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश ॥ ८ ॥ आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा । ब्रह्मनाड़ीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ९ ॥ पृष्ठ मध्य स्थितेनास्थ्ना वीणा-दण्डेन सुव्रत । सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥ १० ॥" जावाल दर्शनोपनिषद् चतुर्थखण्ड ॥

हे मुनि पुङ्गव ! उसी कन्द स्थान के मध्य में नाभि है ऐसा योगवेत्ताओं का कहना है। कन्द के मध्य भाग में जो नाड़ी है वह सुषुम्ना के नाम से कही गयी है। उसके चारों ओर बहत्तर हजार नाड़ियां हैं। उन में इंड़ा, पिङ्गला, सुपुम्ना, सरस्वती, पूषा, वरूणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्वुसा, कुहू, विश्वोदरी, पयस्विनी, शङ्खिनी और गान्धारा यह चौदह नाड़ियें प्रमुख मानी जाती हैं। इन चौदह नाड़ियों में भी तीन नाड़ी उन सव से प्रमुख हैं। इन तीनों में भी एक मात्र सुषुम्ना नाड़ी सब से श्रेष्ठ मानी गयी है। पृष्ठ वंश के मध्य भाग में जो मेरुदण्ड है वह स्थूल शरीर का मूल स्तम्भ रूप है उसके अग्रभाग के पोल से निकली हुई सुषुम्ना नाड़ी ऊपर मस्तक तक पहुंची है। सुषुम्ना के वाम भाग में इंड़ा और दक्षिण भाग में पिंगला हैं। सुषुम्ना के उभय पार्श्व में सरस्वती और कुहू हैं। ईड़ा के पीछे गान्धारा तथा पूर्वभाग में हस्तिजिह्वा हैं। कुहू और हस्तिजिह्वा के मध्य भाग में विश्वोदरी स्थित है। यशस्विनी और कुहू के मध्य में वरूणा नाड़ी की स्थिति है। पूषा एवं सरस्वती के मध्य भाग में शङ्खिनी नाड़ी है। नाभि कन्द के मध्य भाग से गुदा तक अलम्बुसा गई हुई है। सुषुम्ना नाड़ी को राकिनी भी कहा जाता है। पिंगला की स्थिति दक्षिण नासिका तक समझी जाती है और इंड़ा की स्थिति वाम नासिका तक। यशस्विनी दक्षिण

पाद के अंगूठे तक फैली है और पूषा पिंगला के पीछे होती हुई दक्षिण नेत्र तक गई हुई है। सरस्वती ऊपर जिह्वा तक और हस्ति-जिह्वा वामपाद के अंगूठे तक स्थित है। शङ्खिनी नाम की नाड़ी बांये कान तक फैली है और गान्धारा वाम नेत्र तक गई हुई है। विश्वोदरी नाभि कन्द के मध्य भाग में स्थित है।

इस प्रकार से कटि और उदर प्रदेश का वर्णन किया गया है।

(५) जाँघ—पाद मूल से लेकर पाद तल तक कमर से जुड़ी हुई जाँघें हैं। जानु से नीचे तक का मध्य भाग पिण्डली हैं, इसके नीचे एड़ी या पार्ष्णी हैं,-ये ही इस स्थूल शरीर का प्रमुख स्थान हैं। इस स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोष कहते हैं। इस अन्नमय कोष का साक्षात्कार करने की विधि यद्यपि इसी स्थान में बतलानी चाहिये थी परन्तु प्राणमय कोष का भी अन्नमय कोष के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्राणमय कोष का वर्णन करने के पश्चात् ही इन दो कोषों के साक्षात्कार करने की विधि बतलाई जायेगी। क्योंकि अन्ननय व प्राणमय कोषों के मिलने से ही स्थूल शरीर पूर्ण होता है।

– प्राणमयकोष –

प्राणमय कोष—यद्यपि स्वरूपतः प्राण एक हैं तथापि स्थान व क्रिया के भेद से वह पांच प्रकार का हो जाता है। यथा—"प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च। नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तोधनंजयः। एते नाड़ीषु सर्वासु चरन्ति दशवायवः"॥ प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान-ये पांच प्राण हैं और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय-ये पाच उप प्राण हैं। ये ही दश प्राण के नाम से कहे गये हैं। जैसे अन्न हमारे शरीर के लिये प्रधानतया

धारक, पोषक व रक्षक हैं; वैसे ही प्राण भी हमारे शरीर के लिये विशेषतया धारक, पोषक एवं संरक्षक हैं, क्योंकि अन्न को त्याग कर हम ५–१०–१५ दिन या अधिक दिन पर्यन्त जीवित रह सकते हैं परन्तु प्राणाहार को त्याग कर हम एक घण्टे भी तो जीवित नहीं रह सकते, ५–७ मिनट के अन्दर हमारा समस्त खेल ही परिसमाप्त हो जायगा। हां, योगी लोग प्राणायाम आदि द्वारा प्राण को वश में करके कई-कई घण्टों तक प्राण को रोक करके भी जीवित रह सकते हैं परन्तु सूक्ष्म प्राण का तो कभी रोध होगा ही नहीं। जिस दिन सूक्ष्म प्राण का निरोध होगा उसी दिन आत्मा भी शरीर को त्याग कर भाग निकलेगा, यह ध्रुव सत्य है। इसी लिये योगी को प्राणायामादि के द्वारा प्राण को अवश्य ही वश में कर लेना चाहिये। प्राण का लक्षण इस प्रकार का है,—"प्राणयति जीवयति स इति प्राणः" विशेष रूप से जो प्राणी मात्र के जीवन का आधार बना हुआ है अर्थात् जिसके सहारे प्राणी जीवित है वही प्राण है। यद्यपि प्राणादि वायु रूप–रहित स्पर्श–वान् मात्र है तथापि जिस-जिस पदार्थ के साथ उसका संयोग होगा वह उसी-उसी रूप वाला हो जाता है। जैसे कहा है,—"स्पर्शवान् वायुः" ॥ वैशेषिक० २-१-४ ॥ वायु रूप वाला न होने पर भी स्पर्श वाला है। स्पर्श के द्वारा ही उसका साक्षात्कार होता है। कारण कि वह जो प्राणापानादि वायु प्रत्येक शरीर में विद्यमान है वह भी उसी समष्टि वायु महाभूत का ही व्यष्टि रूपेण कार्यात्मक एक अंश ही है। उन प्राणापानादि वायु का स्थान भेद व कार्य भेद से विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार का है।

— पाँच प्राण —

(१) प्राण—प्राण वायु का स्थान नासिका से हृदय तक है, और प्राणी मात्र को जीवन प्रदान करना उसका कार्य है।

(२) अपान—नाभि से लेकर पादतल तक उसका स्थान है, और रज, वीर्य, मूत्र, पुरिष एवं गर्भादिकों को निम्न गति करके निष्कासन करना इसका कार्य है।

(३) समान—नाभि से हृदय तक इस का स्थान है, और कार्य यह है कि जठराग्नि के साथ मिल कर पाचन क्रिया का सम्पादन करना, अन्न से निकले रस को रक्त में परिणत करने के लिये रक्त में हरिणत करने के लिये रक्त स्राव नाड़ी में प्रेरित करना, प्राणापान के मध्य रह कर दोनों को आकर्षण विकर्षण करना इस समान वायु के कार्य हैं। योग शास्त्र में कहा है,—"नाभ्याग्निमावेष्टय व्यवस्थितस्य जयात् संयमेन वशीकरणात् निरावरणस्य कायाग्नेरुद्भूततेजसा प्रज्वलन्निव दृश्यते योगी"॥ जो नाभि स्थित जठराग्नि के साथ संयुक्त होकर कार्य करता है अर्थात् भुक्त द्रव्यों का परिपाक करके रस रक्तादि का विभाग करता है उसी का नाम समान वायु है। संयम द्वारा उस वायु का वशीकार अर्थात् जय कर लेने पर योगी का शरीर दीप्तिमान हो उठता है और अत्यन्त तेजस्विता आ जाती है।

(४) उदान—उदान वायु कण्ठ स्थानीय है, उस का कार्य उदरस्थ अपाकज दूषित भुक्तान्नों को वमन द्वारा बाहर निकाल देना और—"उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः" शरीर को ऊपर उठा रखना गिरने न देना इसका कार्य है। गायन तथा वर्णोच्चारणादि भी इसी उदान वायु की सहायता से ही सम्पादन हो पाता है। व्यास भाष्य में कहा है,—उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति तां वशित्वेन प्रतिपद्यते" योगी अपने उदान वायु के ऊपर संयम साधन द्वारा वशित्व प्राप्त कर लेने पर प्रयाण काल में अपनी इच्छा के अनुसार प्राण वायु को ऊपर दशम द्वार में ले जा कर ऊर्ध्व लोक

अर्थात् ऊर्ध्व गति को प्राप्त कर सकता है।

(५) व्यान वायु—व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर व्यापी है, जसे कहा है,—"आशरीर वृत्तिःव्यापी व्यान इति" व्यान वायु सारे शरीर में रहकर कार्य करता है, अर्थात् प्रत्येक अंग प्रत्यंग में रक्त का प्रवाहित करना, प्रत्येक नस नाड़ी में रक्त को वांट देना और प्राणों तथा उपप्राणों के कार्य में सहायता देना इसका कार्य है।

उपर्युक्त मुख्य पांच प्राणों की यही संक्षिप्त व्याख्या है। इसके आगे उपप्राणों का वर्णन करते हैं।

— पाँच उपप्राण —

(१) नाग—इस नाग वायु का स्थान कण्ठ से मुख पर्यन्त है और "उद्गारादिगुणः प्रोक्ता" उद्गार तथा हिचकी लाना इस का कार्य है।

(२) कूर्म—कूर्म वायु नेत्र स्थानीय है, "निमीलनादि कूर्मस्य" नेत्रों के पलकों का निमेष तथा उन्मेष करना अर्थात् नेत्रों को झपकाने एवं खोलने का कार्य कूर्म वायु का है।

(३) कृकल—हृदय से मुख तक इस का स्थान है। जृम्भण लाना व क्षुधा तृष्णा को उत्पन्न करना इसका कार्य है। कहा भी है—"क्षुधा तु कृकरस्य च" कृकल वायु क्षुधा तृष्णा का उत्पादक है।

(४) देवदत्त—इस का स्थान कण्ठ से नासिका पर्यन्त है और इसका कार्य "देवदत्तस्यविप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम्" छींक

लाना, तन्द्रा को उत्पन्न कर निद्राभिभूत कर देना तथा आलस्य प्रमादादिकों को उत्पन्न करना आदि कार्य देवदत्त वायु का है।

(५) धनंजय—यह धनंजय वायु भी सर्व शरीर व्यापी है। इसका कार्य "धनंजयस्य शोभनादि कर्म" अर्थात् प्राणी मात्र के शरीरस्थ मांसल पिण्डों को फुला कर अति शोभनीय बना रखना धनंजय वायु का कार्य है। यह धनंजय वायु हमारे शरीर में ऐसे जोंक की तरह चिपका हुआ है कि मृत्यु के पश्चात् भी यह पीछा नहीं छोड़ता है। आपने देखा होगा प्रायः मृतक शरीर मृत्यु के कुछ देर के पश्चात् फूल जाया करता है, फूलने का कारण प्राणापान के सहयोग न मिलने पर धनंजय वायु वैषम्यता को प्राप्त होकर शरीर को फुला देता है और शरीर खण्ड-खण्ड न होने तक उसका अधिपत्य रहता है।

यही उपरोक्त दशों प्राण वायुओं का संक्षिप्त वर्णन है। अब आप पूर्वोक्त अन्नमय कोष से लेकर प्राणमय कोष तक पूर्णतया साक्षात्कार कीजिए।

हम पहले भी यह बतला आये हैं कि ब्रह्मरन्ध्र में स्थित जो दिव्य नेत्र है वही तीनों शरीरों और स्थूल भूतों से लेकर अलिंग प्रकृति तक विश्व में जितने भी स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं सब को दिखायेगा। पूर्व कथनानुसार आप को जो दिव्य चक्षु का साक्षात्कार या दर्शन हुआ था, निरन्तर अभ्यास से उसे दृढ़ भी किया होगा, परन्तु देखने से ही तो कुछ नहीं बनता अतएव उसे अब काम में भी लाईए। ध्यानस्थ होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित दिव्य चक्षु की ज्योति को जो कि अपने ही स्थान पर चमक रही है, उस ज्योति को लेकर साधक संकल्प बल से शरीर के सम्पूर्ण अंग प्रत्यङ्गों में एक प्रकार व्यापक सी दृष्टि डाले, जिस से कि देह के अन्दर स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को दिखा सके अभ्यास परिपक्व हो जाने पर जैसे ऊपर

लगे हुए बल्ब का प्रकाश महल के सम्पूर्ण पदार्थों को दिखाता है वैसे ही दिव्य नेत्र की ज्योति भी देह के अन्दर स्थित पदार्थों का विस्पष्ट से साक्षात्कार कराता है। परन्तु जैसे महल के अन्दर प्रवेश करते ही महल के अन्दर के पदार्थों का दर्शन होने पर भी एक साथ सब का सम्यक ज्ञान नहीं होता, एकैक क्रमेण देखते चले जाने पर ही सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान होता है, वैसे ही देह पुर के अन्दर ध्यान दृष्टि का प्रवेश होते ही वह सम्पूर्ण पदार्थों को तो दिखायेगी अवश्य, परन्तु सब का एक साथ ज्ञान नहीं होगा। अतः एक-एक करके साक्षात्कार करना होगा। इस लिये सर्व प्रथम आप अस्थि पंजर का साक्षात्कार करें, किस प्रकार से वह सज्जित है। उसके पश्चात् रक्त व मांसल पिण्ड का स्पष्टता पूर्वक साक्षात्कार करते चलें। फिर छोटी बड़ी नस नाड़ियों में ध्यान दृष्टि को ले जा कर प्रत्येक नाड़ी कहां से उत्पन्न हुई है, कहां तक फैली है, उनका कार्य क्या है इत्यादि। इस क्रम से समस्त नाड़ियों की उत्पत्ति, स्थान, कार्य और उन के रंग रूप का सम्यक प्रकारेण साक्षात्कार करते जाइए पश्चात उसके आमाशय, पक्वाशय आदि में ध्यान दृष्टि को ले जाकर यह देखने का प्रयत्न करें कि जो उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थों का विभिन्न प्रकार के व्यञ्जन बना-बना कर हम लोग नित्य भोग लगाया करते हैं उस उदरस्थ भुक्त द्रव्य का कहां किस स्थान पर जाकर परिपाक होता है, और परिपाक होकर रस रक्त तथा मांसास्थि आदि का परिणाम क्रम और प्रत्येक का विभागश कार्य तथा सूक्ष्म व्यापारों को साक्षात्कार करना उक्त विधि से अन्नमय कोष का प्रत्येक अंग तथा उपाङ्ग का एक-एक क्रम से पूर्णतया साक्षात्कार करने के पश्चात् प्राणमय कोष का भी साक्षात्कार करें।

अब प्राण तथा उप-प्राणों का वर्णन क्रमानुसार प्राणमय कोष का साक्षात्कार करें, अर्थात् प्रत्येक प्राण के स्थानों में ध्यान

दृष्टि को ले जाकर किस प्राण की कहां से कहां तक गति तथा स्थिति है, किस प्राण का क्या-क्या कार्य व्यापार है, किस प्राण का क्या-क्या रंग रूप है इत्यादि पूर्ण रूप से साक्षात्कार करते जायें, अर्थात् प्राणापान से लेकर धनंजय प्राण तक सब का स्थान, रूप रंग तथा कार्य व्यापारों का ऊहा पोह, तर्क वितर्क पूर्वक स्पष्ट साक्षात्कार करते जाइये। इस प्रकार से सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्ग में ध्यान दृष्टि को घुमा फिरा कर सम्पूर्ण स्थूल शरीर का साक्षात्कार करने के पश्चात् कुण्डलिनी उत्थान तथा चक्र भेदन भी करें।

— कुण्डलिनी उत्थान व चक्र भेदन —

अन्नमय प्राणमय कोषों का पूर्णरीत्या साक्षात्कार के साथ ही कुण्डलिनी उत्थान एवं चक्र भेदन करना भी अनिवार्य है। अतः ध्यानावस्थिति के काल में ही ब्रह्मरन्ध्र स्थित दिव्य नेत्र की ज्योति को सीधा मूलाधार की ओर फेंकिए। यहां एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि ब्रह्मरन्ध्र से दिव्य नेत्र की ज्योति को मूलाधार में फेंकने के लिये तो कोई रास्ता है नहीं, बहुत कुछ व्यवधान पड़े हैं, तो किस प्रकार से उस ज्योति को मूलाधार पर फेंका जाये ? इसके उत्तर में यही कहना है कि वह दिव्य चक्षु की ज्योति भौमादिक अग्नि के प्रकाश के समान नहीं है जो पर्दा डालते ही उसका प्रकाश वहीं रुक जाये। उस दिव्य नेत्र का प्रकाश तो पारदर्शी एवं अनुद्भूत है, अर्थात् जिस प्रकाश में दाह नहीं है और कोई पर्दा भी उस प्रकाश को नहीं रोक सकता है। उसके बीच में कितने ही व्यवधान क्यों न हों उन सब को भेदन कर वह सुदूर लोक लोकान्तरों तक चला जाने की शक्ति वाला है। अतएव उसके लिये किसी रास्ते की आवश्यकता नहीं है, जिधर भी ध्यान दृष्टि को ले जाईयेगा वहीं प्रकाश भी पहुंच जायगा। अतः दिव्य नेत्र के प्रकाश को सीधा

ही मूलाधार पर फेंकिए और मूलाधार में स्थित पदार्थों का देखने के लिये भी प्रयत्न करें।

ब्रह्मरन्ध्र स्थित दिव्य नेत्र के प्रकाश को मूलाधार पर फेंकने पर भी यदि वहां कुछ नहीं दिखाई देता है तो ध्यान दृष्टि से मूलाधार पर ऊपर के प्रकाश से ठोकर लगाया करें। इस प्रकार करने से सुषुम्ना नाड़ी कम्पित होने लगती हैं और प्राण तथा अपान क्षुब्ध हो उठता है एवं प्राणापान समान का विलोड़न होकरके मूलाधार की नाड़ियों को क्षुब्ध व प्रभावित कर देता है, और मूलाधार से एक प्रकार की विलक्षणता लिये स्पर्श की गति करते हुए सुषुम्ना के अन्दर से ऊपर को चढ़ते हुए अनुभव होने लगता है, और वह ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाता है। उस समय मूर्छा सी अवस्था आने लगती है और देह की सुध न रह कर एक प्रकार मस्ती की सी अवस्था आने लगती है तथा आनन्द का भी अनुभव होने लगता है। कुछ देर के पश्चात् जब प्राणापान की तथा नाड़ियों की क्षुब्धता शिथिल पड़ने लगती है तब वह स्वयं उतर जाता है, जैसे गया था। इसी को प्राणोत्थान कहते हैं। साधक को प्राणोत्थान के समय घबराना नहीं चाहिये, क्योंकि वह कोई विघ्न कारक नहीं है, समाधि का नमूना या पूर्व लक्षण है।

प्राणोत्थान और कुण्डलिनी उत्थान में थोड़ा सा ही भेद है, अर्थात् प्राणोत्थान मधुर सा कोमल स्पर्श लिये होता है और कुण्डलिनी उत्थान दिव्य प्रकाश को लिये होता है। मूलाधार में जब निरन्तर ध्यान की ठोकर लगायी जाये तब वहां पर कुछ प्रकाश की आभा सी, कभी-कभी दीप शिखा सी दिखाई पड़ने लगती है। ध्यान की ठोकर लगाते समय साथ-साथ अश्विनी मुद्रा भी लगाने से अति शीघ्र ही दिव्य ज्योति को प्रकट करती हुई कुण्डलिनी

शक्ति जागृत हो जाने पर सुषुम्ना के अन्दर से ऊपर को उत्थान भी करना चाहिये। योगवेत्ताओं की मान्यता है कि सुषुम्ना के अन्दर और एक शङ्खिनी नाम नाड़ी है और उसके अन्दर एक पीताभ चित्रा नाम की नाड़ी है, उसके अन्दर फिर और एक विद्युत वत अति सूक्ष्म ब्रह्म नाम की नाड़ी है जिस में चक्रों की स्थिति है। जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति जब मूलाधार से स्वाधिष्ठान, मणि पूरक चक्र की ओर ऊपर चढ़ने लगती है तब ऐसा अनुभव होगा कि एक अति तीव्र प्रकाश की धारा ही ऊपर को चढ़ रही हो। उस समय सुषुम्ना नाड़ी भी जैसे रबड़ की नलिका में हवा को भर दिया जाने से फूल जाती है, वैसे ही कुण्डलिनी की दिव्य ज्योति से सिकुड़ी हुई सुषुम्ना नाड़ी भी खुलती हुई विकसित होती हुई प्रकाशित होती जाती है। जितनी ऊपर तक ऊर्ध्वगामी होती जायेगी उतने ही स्थानों को वह प्रकाशित करती जायेगी अर्थात् मूलाधार से स्वाधिष्ठान, स्वाधिष्ठान से मणिपूरक चक्र, मणिपूरक से अनाहत चक्र, अनाहत से विशुद्ध कमल, विशुद्ध कमल से आज्ञा चक्र तक प्रत्येक चक्र को खोलती प्रकाशित करती हुई और प्रत्येक चक्र के स्थानीय पदार्थों को दिखाती अनुभव कराती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाती है। ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर जब दिव्य नेत्र की ज्योति के साथ जा जुड़ती है तब दिव्य नेत्र की ज्योति अति दिव्य प्रचण्ड हो उठती है, मानों दिव्य नेत्र की ज्योति के साथ और कोई शक्ति आ जुड़ी है। जैसे सुसज्जित किसी महल में बिजली के तार, नाना वर्ण के ग्लोब, झाड़, फानूस तथा बिजली के यन्त्र पंखे आदि लगे हुए हों तो बिजली के स्विच (बटन) दबा देने मात्र से सब प्रकाश देने शुरू कर देते हैं महल प्रकाश मय हो उठता है। उसी प्रकार जब कुण्डलिनी रूपी स्विच (बटन) दबा दिया जाय तब तत्काल ही विद्युत का प्रवाह सुषुम्ना रूपी तार में पहुंच जाता है और सम्पूर्ण

चक्र मण्डल को प्रकाशिन कर देता है। तब क्रमशः सारे चक्रों तथा नाड़ियों को प्रकाशित कर देता है तब साधक को उन सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार होने लगता है। उस प्रकाश या ज्योति से ब्रह्मरन्ध्र-गत सूक्ष्मेन्द्रिय तथा मन बुद्धि आदि पदार्थों को भी स्पष्ट दिखाने लगती है। उस समय एक प्रकार की अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होने लगती है। वह कुण्डलिनी शक्ति तब तक वहां रह कर अद्भुत-अद्भुत अनुभूति कराती रहेगी जब तक साधक का उस ध्यानावस्था से व्युत्थान नहीं होगा।

चतुर्थ अध्याय

सूक्ष्म शरीर और उसका साक्षात्कार

१७ सत्रह तत्त्व मिलकर सूक्ष्म शरीर बना है, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं एवं मन व बुद्धि, इन तत्त्वों का समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता है। परन्तु इन तत्त्वों में भी मनोमय और विज्ञान मय कोष के भेद से दो भाग हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन, मनोमय कोष; फिर पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि, विज्ञान मय कोष कहलाता है। उक्त दोनों कोष मिल कर ही सूक्ष्म शरीर होता है। यद्यपि सूक्ष्म शरीर का कार्य-व्यापार सम्पूर्ण शरीर व्यापी है, परन्तु कार्य कर्त्ताओं का (मन, बुद्धि एवं इन्द्रियादिकों का) निवास स्थान या उन का कार्यालय मानव मस्तिष्क गत ब्रह्मरन्ध्र नामक स्थान के कुक्कुटाण्ड परिमाण बड़ा रिक्त स्थान में है। पूर्वोक्त कार्य कर्ताओं को यदि लौकिक विद्या से ही नहीं अध्यात्म ब्रह्मविद्या की भी शिक्षा दी जाय तथा उन्हें अपनी इच्छा के अधीन बनाए रक्खा जाये तो वे इतने उन्नत एवं शक्तिशाली होंगे कि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के ज्ञान-विज्ञान, धर्म कर्म, गति क्रियाओं को जानने एवं सब के न्यायोचित कार्य सम्पादन कर देने में दावा करेंगे या कर देंगे। अतएव मुमुक्षु मात्र का कर्तव्य है कि ध्यान योग साधन तथा तत्त्वानुशीलनादि द्वारा अन्तःकरण की अन्तर्निहित शक्तियों का उत्तरोत्तर विकास

करते चले जायें। सूक्ष्म शरीर को ही शास्त्रों में कहीं-कहीं लिग-शरीर नाम से भी कहा है। यथा-"सप्तदशैकं लिङ्गम" ॥ सांख्य० ३-९ ॥ इस सूत्र से यही सूचित किया गया है कि मन को इन्द्रियों के साथ मान कर ग्यारह इन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं एवं बुद्धि, यह सत्रह तत्त्व संयुक्त सूक्ष्म शरीर कहलाता है। मृत्यु के पश्चात् यह लिंग शरीर ही परलोक गमन अर्थात् लोक लोकान्तरों में गमनागमन आदि करता रहता है, और एक शरीर को छोड़ कर दूसरे-दूसरे शरीर का आलम्बन करता रहता है। यहां एक तर्क उपस्थित होता है कि स्थूल शरीर जड़ है सब को विदित है ही, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् वह निश्चेष्ट काष्ठवत् पड़ा रहता है इसे सभी प्रत्यक्ष देखते हैं। परन्तु मृत्यु के पूर्व जीवित अवस्था में जो महाबलशाली सिंह के समान अत्यन्त बल पराक्रम एवं कार्यक्षमता थी वह कहां से आयी थी जो मृत्यु के बाद नहीं रहती ? और यह भी है कि स्थूल शरीर के सदृश लिंग शरीर भी जड़ प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण जड़ है, तो किस की शक्ति से या किस के सहारे से क्रिया तथा गतिशील बन कर लोक लोकान्तरों में गमनागमनादि करता है ? इस शंका के निराकरणार्थ उपनिषद कथित एक गाथा को उपस्थित किया जाता है। एकदा बृहद्रथ नामक राजा को शरीर की अनित्यता का ज्ञान होने पर बड़ा ही तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया, परिणाम स्वरूप अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य भार देकर वह बन में चला गया, और एकान्त रम्य अरण्य खण्ड में निवास करते हुए घोर तपस्या करने लगा। कुछ काल के पश्चात् तपश्चर्या के फल स्वरूप सहसा एक दिन शाकायन्य नाम के आत्मवेत्ता महामुनि का वहां शुभागमन हुआ। ब्रह्मतेज से उनका शरीर ऐसा चमक रहा था कि जैसे बिना धुंए की अग्नि। उन्होंने राजा से कहा राजन्। उठो! वरदान मांगो। राजा ने कहा,-भगवन्! मैं यही वरदान

मांगता हूँ कि मैं आत्म--वेत्ता नहीं हूँ, मैंने सुना है आप आत्म-वेत्ताओं में शिरोमणि हैं, अतः भगवन् ! मुझे आत्म ज्ञान रूप वरदान दीजिए। यह सुन कर मुनि ने कहा, हे इक्ष्वाकुवंशीय राजन कोई अन्य वर मांग ले, और ऐसा प्रश्न मत पूछ, जिसे प्राचीन काल से ही बहुत कठिन माना जाता है। यह सुनते ही राजा बृहद्रथ ऋषि शाकायन्य के चरणों को स्पर्श करते हुए बोला, महाराज ! यह शरीर अस्थि, त्वचा, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य, रक्त, आंसू, विष्ठा, मूत्र, पुरीष वायु, पित्त, कफ आदि अनेक अपवित्र पदार्थों से युक्त है, दुर्गन्ध से भरा है और निस्सार है, तो विषय भोगों की क्या आवश्यकता है ? यह शरीर काम, क्रोध, लोभ, मोह, दुःख भय, इर्ष्या, प्रिय वस्तु का वियोग, भूख प्यास, वार्द्धक्य, जरा, मृत्यु, व्याधि तथा विभिन्न शोकादि से पीड़ित है। इसके लिये विषय भोगों की क्या आवश्यकता है ? यह समस्त जगत् नाश वान् है। सभी प्राणियों को हम नित्य मरते हुए देखते हैं। इन की क्या गिनती है। जब कि बड़े--बड़े धनुर्धारी वीर और कितने ही सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्च, यौवनाश्च, धियाश्च, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, मनुपुत्र शर्याति, ययाति, अनरण्य, उक्षसेन, मरुत और भरतादि चक्रवर्ती राजा भी अपने बन्धु बान्धवों को देखते-देखते इहलोक के विपुल भोगैश्वर्यों को त्याग कर परलोक को चले गये ! हाय। बहुत ही आश्चर्य की बात है। केवल मनुष्य ही नहीं, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत,--पिशाच तथा सर्पादिकों का भी हम नाश होते देखते हैं, तब हे प्रभो ! इस क्षण स्थायी नाश वान् और अहंकार से भरे संसार में पड़ कर क्या लाभ होगा ? विषयों में आसक्ति वाले को तो बारम्बार जन्म मृत्यु के चक्र में फँसे ही देखते हैं। अतएव महाराज ! अन्धेरे कुंये में मेंढक के समान पड़े हुए का उद्धार कीजिए, मैं आपकी शरण हूँ, आप ही

मेरे आधार हैं। यह सुन कर महर्षि शाकायन्य बहुत प्रसन्न हुए और राजा से कहने लगे, हे राजन् तुम इक्ष्वाकु वंशी ध्वजशीर्ष नरेश के पुत्र हो, मरुत नाम से विख्यात हो, और सब प्रकार से कृतकृत्य हो। यह आत्मा कैसा है ? और कैसे उसका साक्षात्कार किया जायगा सुनो,–योगानुष्ठान द्वारा आन्तर्वाह्य इन्द्रियों के व्यापारों को रोक देने से भृकुटि में ज्योति उत्पन्न होती है। वह ज्योति क्रमशः अधिकाधिक बढ़ती हुई सम्पूर्ण शरीर में व्यापक हो जाती है, उस समय एकाग्र चित्त होकर हृत्पुण्डरीक पर ध्यान की दृष्टि को डालने से दमकता हुआ आत्म प्रकाश का साक्षात्कार होता है, जो अन्धकार का नाश करने वाला है। यही आत्मा मुक्ता-वस्था में तीनों शरीरों को सर्प की केंचुली की तरह त्याग कर परम ज्योति रूप ब्रह्म में स्थित हो जाता है। वही आत्मा अभय व अमृत रूप है । ऋषि शाकायन्य ने राजा के प्रति पुनः कहा, राजन् , निष्पाप तीक्ष्ण तेज वाले पूर्ण ब्रह्मचारी बालखिल्य नाम के मुनि प्रसिद्ध हैं। उन्होंने एकवार ब्रह्मा जी के पास जा कर पूछाः–

"भगवन् शकटमिवाचेतनमिदं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिताऽस्यको भगवन्नेतदस्माकं ब्रूहीति" ।। मैत्रायणी० उ० २–३ ।। भगवन ! यह शरीर शकट (गाड़ी) के समान अचेतन है, तो ऐसी किस की महिमा है, कौन ऐसा अतीन्द्रिय तत्त्व है जिस से यह शरीर चेतन के समान प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है ? इस जड़ देह को प्रेरणा देने वाला कौन है, यह मुझे बतलाइए ।"तान-होवाच" इस पर ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया किः–

"योह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते स वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणो ऽ नीशात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः

स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति" ।। मैत्रायणी० उ० २-४ ।।

जिसे वाणी आदि से परे बतलाया जाता है, उस शुद्ध स्वरूप, पवित्र, शून्य-निराकार, प्रशान्त, जीवन का आधार स्वरूप अनन्त अविनाशी, स्थिर, सनातन, अजन्मा-जन्म रहित और स्वतन्त्र चेतनात्मा की ही यह सब महिमा है। उस चेतन स्वरूप आत्मा के संयोग सम्बन्ध के कारण चेतना रहित शरीर को चेतन के समान प्रतिष्ठा मिलती है। वही इस शरीर को प्रेरणा देने वाला है। तात्पर्य यह है कि चेतन आत्मा के संयोग सम्बन्ध से ही चेतना हीन जड़ देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकारादि चेतन वत् बन कर कार्य कर रहे हैं। अपि च सारे कर्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप कार्य सम्पादन कर रहे। यह पुर स्वामी आत्मा त्रिपुर के अन्दर विराजता है, अर्थात् उसे यों कहें तो और भी स्पष्ट होगा कि पुर स्वामी तीन दुर्गों के अन्दर साक्षी बनकर रहता है। पुर स्वामी का प्रथम दुर्ग है यह भव्य कला से बना स्थूल शरीर, जो अत्यन्त मोहक है, जिसके भरण पोषण-रूप सेवा में मनुष्य सारे जीवन को लगा कर समाप्त कर देता है। इस देह दुर्ग के अन्दर और एक बहुत ही सुन्दर दुर्ग या महल है, जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। उसके अन्दर और एक दूर्ग है जो अति दिव्य, मोहक एवं रम्य है। जिसे हम पुर स्वामी का निवास स्थान या शयन कक्ष भी कह देवें तो अत्युक्ति न होगी, वह है कारण शरीर। जब तक पुर स्वामी देह पुर में निवास करेगा तब तक ही उसके भृत्यगण देहेन्द्रियमनबुद्धया-हंकारचित्तादि सब अपने अपने कार्यों में लगे रहते हैं। जिस दिन आत्मा-स्वामी देह दुर्ग से बाहर निकल कर भाग जाता है उसी दिन यह रम्य स्थूल देह दुर्ग भी श्मशान के तुल्य बन जाता है और नष्ट

हो जाता है। तभी तो कहा है,—"चलं शरीरं प्रतिक्षणमन्यथा भावात्" देह का सदा ही अन्यथा भाव हेतु परिणाम हेतु चल है या अनित्य नाशवान है । आत्मा "अचलमात्मतत्त्वम्" अचल है, सदैव एक रस रहता है, इस का परिणाम एवं विनाश नहीं होता है। अतः उस अविनाशी पुर स्वामी (आत्मा) का दर्शन करना परमावश्यक है । उसके दर्शन करने के लिये आप को सर्व प्रथम स्थूल देह दुर्ग में प्रवेश करना होगा। उसके पश्चात् दूसरे दुर्ग सूक्ष्म शरीर में जो पुर स्वामी का कार्यालय या दफ्तर है, जहां सम्पूर्ण कृत कर्मों का निर्णय होता है।

प्रिय साधक वृन्द ! आप पूर्व लेख में तो स्थूल देह दुर्ग का स्पष्टतया साक्षात्कार कर ही आये हैं, अब आईए दूसरे दुर्ग के अन्दर भी प्रवेश करें और कार्यालय के कार्य कर्त्ताओं की कार्य कुशलता को स्पष्ट रूप से साक्षात्कार करें । कार्य कर्त्ताओं का उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं, कि पंचतन्मात्राओं को छोड़ कर पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि-ये ही उस कार्यालय के कार्यकर्ता हैं। इन कार्यकर्ताओं की स्थिति कहां किस रूप में है आगे बतलाया जाता है । नवजात बालक के सिर के मध्य भाग में अठन्नी भर के वृत्ताकार गड्ढा सा होता है, उक्त स्थान के डेढ इंच नीचे और सामने से निर्देश किया जाय तो ललाट देश में जिस स्थान पर तिलक लगाया जाता है उसके डेढ़ इन्च अन्दर युवक पुरुष में कुक्कुटाण्ड परिमाण रिक्त स्थान है, उसी स्थान का नाम ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है ! वही सूक्ष्म शरीर का केन्द्र-स्थान है । इन कार्य कर्ताओं की स्थिति इस रूप में है कि ब्रह्मरन्ध्र में दशों इन्द्रिय पङ्क्ति बांध कर एक प्रकार मण्डलाकार रूप में हैं। जैसे शास्त्र में कहा है,—"पङ्क्ति वद्धेन्द्रिय पशु" ॥ महोपनिषद०

३–२९ ॥ यहां इन्द्रियों को पशु नाम से कहा है और वे पङ्क्ति बांध कर मण्डलाकार रूप में स्थित हैं। मानो उक्त स्थान पर विभिन्न प्रकार रंग–विरंग के पुष्पों से ग्रथित माला ही गोल चक्राकार के रूप में रख दी गई हो, देखने में ऐसा ही दीखता है। उसके मध्य केन्द्र में इन्द्रियराज मन अपनी दिव्य रश्मियों से दमकता हुआ स्थित है। मन के पीछे बुद्धि अपनी दिव्य रश्मियों से स्वयं तो जगमागा ही रही है और मन तथा इन्द्रियों को भी उक्त रश्मियों से अनुरंजित किए हुए है, और पंचतन्मात्राएं उक्त मन बुद्धि तथा इन्द्रियों को इस रूप में संगठित किए है कि जैसे झरोखों में से निकली रविरश्मियों में उड़ते वालू कणों का समूह दीख पड़ता है। ठीक उसी प्रकार के विभिन्न रंग युक्त पंचतन्मात्राओं के, नैयायिकों की भाषा में, परमाणु इन के चारों ओर से घेर कर आवृत किए हुए हैं, अर्थात् उसे यों समझिये कि उदयाचल से सहस्रों किरणों को लिये उदय काल में सूर्य भगवान् को मानों कादम्बिनी ही आवृत किये हुए हो–ढके हुए हो। सूर्य की किरणें उस कादम्बिनी को भेदन कर बाहर निकालना चाहती हों, ऐसा मनोरम दृश्य ध्यानस्थ साधक को दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मरन्ध्रगत मन, बुद्धि तथा इन्द्रियादि यद्यपि कोई स्थूल आकार प्रकार युक्त नहीं है और ना ही इन स्थूल आंखों से ही दिखाई पड़ते हैं, परन्तु यह मत समझो कि तत्त्वतो ये हैं ही नहीं, हैं अवश्य, किन्तु ज्योति रूप में, अर्थात् वे ज्योतियों के लघुतर पुंज के रूप में हैं। इसी लिये स्थूल नेत्रों का विषय नहीं हैं। ये सभी पदार्थ तीनों गुणों से प्रभावित भी हैं, अर्थात् ये मन बुद्धि आदि सभी तत्त्व तीनों गुण से अन्वित हैं। उसका स्वरूप निम्न प्रकार का है।

— गुणत्रय —

(१) तमोगुण—जिस समय तमोगुण का प्राबल्य होता है और रजस सत्व की गौणता, उस समय मन तथा इन्द्रियों का रंग-रूप मुर्झाया सा--फीका सा एवं धूसर वर्ण का सा हो जाता है। जैसी रात्रि के समय मेघ मालाओं से आवृत चन्द्रमा तथा तारिकाओं की अवस्था होती है। उस समय ध्यानस्थ साधक को उन तत्त्वों का स्पष्ट साक्षात्कार तो नहीं होता केवल अन्धकार सा बना रहता है और कभी-कभी अस्पष्ट सा धुंधला सा प्रकाश उदय अस्त होता रहता है। यदा कदा इन्द्रियां भी जुगनु की तरह चमक जाया करती हैं। परन्तु साधक को इस अवस्था में कोई विशेष सफलता नहीं मिलती है। एवम्विध तमः क्रान्त अवस्था में उन तत्त्वों की कार्य शीलता भी शिथिल व न्यून हो जाती है।

(२) रजोगुण—जब रजो गुण की प्रधानता होती है और सत्व व तमोगुण की न्यूनता होती है उस समय ब्रह्मरन्ध्र स्थित पदार्थों का स्पष्टतया चमकते हुए साक्षात्कार होने लगता है। जैसे ज्योत्स्ना रजनी के आकाश मण्डल में चमकते चन्द्र एवं तारिकाओं की अवस्था होती है। उन तत्त्वों का रंग रूप भी कुछ लालिमा लिये तथा चकाचौंध कर देने वाला होता है। मन तथा बुद्धि की आभा अत्यन्त चमकीली तथा चंचल होती है। उस समय इन की कार्य क्षमता अति प्रबल एवं अदम्य हो जाती है और दूर देशस्थ वैषे-यिक ज्ञान विज्ञान तथा सब प्रकार के स्थूल सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है।

(३) सत्वगुण—जिस समय सत्व गुण का प्राधान्य होता है उस समय मन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार तथा चित्तादिकों का रंग

रूप शरच्चन्द्रविम्ववत् स्थिर, शान्त एवं दीप्ति युक्त निष्क्रिय सा दीखता है। उस अवस्था में साधक की स्थिति अत्यन्त आनन्द-युक्त, विशुद्ध, प्रशान्त एवं बहुत ही शान्ति प्रद होती है।

अब उन कार्य कर्ताओं के कार्यों का विभागशः वर्णन करते हैं। पहले हम दश इन्द्रियों का ही क्रम पूर्वक निरूपण करते हैं।

— पाँच ज्ञानेन्द्रियों का विभागशः कर्म —

(१) श्रोत्र—श्रोतेन्द्रिय का कार्य किसी भी प्रकार के शब्दों को ग्रहण करना है।

(२) त्वचा—त्वगेन्द्रिय का कार्य कठोर एवं कोमल स्पर्श का ग्रहण करना है।

(३) चक्षुः—नेत्रेन्द्रिय का कार्य, शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश तथा चित्रादि भेद से सप्तविध रूपों का ग्रहण करना है।

(४) रसना—रसनेन्द्रिय का कार्य. मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त भेद से षड्विध रस का ग्रहण करना है।

(५) घ्राण—घ्राणेन्द्रिय का कार्य सुगन्ध हो या दुर्गन्ध, गन्ध मात्र का ग्रहण करना है।

— पांच कर्मेन्द्रियों का विभागशः कर्म —

(१) वाक्—वागिन्द्रिय का कार्य सम्भाषण करना, अर्थात् बोलना, गाना, वाणी के द्वारा अन्तर्भावना को प्रकट कर देना-इत्यादि।

(२) पाणि—हस्तेन्द्रियों का कार्य आदान प्रत्यादान, अर्थात लेना देना, पकड़ना इत्यादि।

(३) पाद—पादेन्द्रिय का कार्य चलना अर्थात् गमनागमनादि करना है।

(४) पायु—गुदेन्द्रिय का कार्य मल विसर्जन करना है।

(५) उपस्थ—उपस्थेन्द्रि का कार्य मूत्र त्याग एवं प्रजनन कर्म सम्पादन करना है। अपि च रति कालीन सम्भोग जन्य आनन्द का अनुभव भी उस उपस्थ इन्द्रिय के द्वारा ही होता है।

यही दस स्थूल इन्द्रियों का संक्षिप्त वर्णन है, क्योंकि इन्द्रियां दो प्रकार की हैं,—स्थूलेन्द्रियां व सूक्ष्मेन्द्रियां। सूक्ष्म इन्द्रियों का मूल केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है, जहां से समस्त कार्यों का सम्पादन होता है।

— मन —

(१) मन—मनस्तत्व बहुत ही रहस्य पूर्ण तत्त्व है, प्राचीन काल से ही इसके विषय में तत्त्ववेत्ताओं ने बहुत कुछ विचार विनिमय की है। अर्वाचीन काल में भी मनो-विज्ञान आदि के ग्रन्थों में मनस्तत्त्व के विषय में तत्त्वविदों ने बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया है। तभी तो अध्यात्म शास्त्रों में "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः" वाक्य यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। मनस्तत्त्व का संक्षिप्त वर्णन करना हो तो इतना ही है कि "चंचलत्वं मनोधर्मो" इस न्याय से चंचलत्व मन का धर्म है और द्रुततर उसकी गति या क्रिया है। मन चंचल होने के कारण अहर्निश इन्द्रियों को कर्मों में प्रेरणा करता रहता है और स्वयं भी कर्मों में लगा रहता है।

— बुद्धि —

(२) बुद्धि—बुद्धि का कार्य निर्णय करना है, किसी भी विषय को ऊहा-पोह, तर्क-वितर्क पूर्वक निर्णय कर देना बुद्धि का कार्य है। जैसे,—"निश्चयात्मिका बुद्धिः"। "अध्यवसायोबुद्धिः" ॥ सांख्य० २–१३ ॥ निश्चय रूपा बुद्धि है, अर्थात् भला-बुरा, सत्य मिथ्या, अनुकूल, सबका न्यायोचित विवेचन करके निर्णय कर देना बुद्धि का कार्य है। ज्ञान का करण भी बुद्धि ही है, जैसे शास्त्र में कहा है,—"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनार्थान्तरम्" ॥ न्याय० १–१५ ॥ बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान, यह अलग-अलग वस्तु नहीं है परन्तु एक ही हैं। ज्ञान, उपलब्धि, बुद्धि और प्रत्यय,—ये सब एकार्थ वाचक, पर्यायवाची शब्द हैं।

यद्यपि अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) का वर्णन एक साथ क्रम पूर्वक होना चाहिये था, परन्तु प्रसंग भिन्न रूप में प्रतिपादन होने के कारण चित्त और अहंकार का वर्णन यहां नहीं किया गया। चित्त और अहंकार कारण शरीर अर्थात् आनन्दमय कोष के अन्तर्गत होने से उनका वर्णन वहीं आनन्दमय कोष में किया जायेगा।

अब उन तत्त्वों का साक्षात्कार कैसे किया जायगा उसे दर्शाया जाता है। ध्यानस्थ साधक जब ध्यान दृष्टि को ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाता है, यहां के तत्त्वां को साक्षात्कार करना चाहता है, उस समय प्रथम-प्रथम इस प्रकार की अनुभूतियां हुआ करती हैं कि जैसे उपनिषद आदि में वर्णन किया है—

"नीहार धूमार्कानलानिलानांखद्योतविद्यु त्स्फटिकशशिनाम्। एतानिरूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे" ॥ श्वेता०

२-११ ॥ ब्रह्म प्राप्ति का अभिलाषी मुमुक्षु जब गुरू की आज्ञा के अनुसार योगानुष्ठान करने लगता है और ध्यानावस्थित होता है उस समय ध्यानस्थ साधक के सामने कुहरा-नीहार धुंआ, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत-जुगनु, बिजली की चमक, स्फटिक मणि एवं चन्द्रमा के समान उज्ज्वल ज्योति, चमचमाते प्रकाश इत्यादि अनेक प्रकार के दृश्य प्रारम्भ काल में प्रत्यक्ष होने लगते हैं। यह सब योग-साफल्य के पूर्व लक्षण हैं। जब इस प्रकार की अनुभूतियां होने लगती हैं तब साधक को उनके अभिमान से गर्व न करना चाहिये, धैर्य पूर्वक दत्तचित्त होकर ध्यानस्थ अवस्था में जो कोई भी पदार्थ सामने आ जाये उसे स्पष्ट देखता चला जाये। इस प्रकार दृढ़ संकल्प होकर योगानुष्ठान करते रहने से उपर्युक्त अनुभूतियां ही नहीं उसके आगे अनेक प्रकार के अद्भुत-अद्भुत अनुभव होने लगते हैं, और क्रमशः दिव्य नेत्र की सहायता से ब्रह्मरन्ध्र गत सूक्ष्म इन्द्रिय तथा मन बुद्धि आदिकों को भी आप विस्पष्टतया साक्षात्कार कर सकेंगे। कौन इन्द्रिय किस स्थान पर है, क्या-क्या कार्य करती है, किस अवस्था में क्या-क्या रंग रूप धारण करती है, स्थूल-इन्द्रियों के साथ इन सूक्ष्म इन्द्रियों का क्या सम्बन्ध है, इसके विषय में हम संक्षिप्त रूप में दर्शा देते हैं। चित्तगत स्मरण जन्य अथवा संस्कार जन्य उठते भाव, जब भोगोन्मुख होकर ब्रह्म-रन्ध्र स्थित सूक्ष्मेन्द्रिय तक पहुंचते हैं, तब ज्ञान वाहक या गति वाह तन्तु जो स्थूलेन्द्रिय तथा सूक्ष्मेन्द्रिय के बीच साम्वेदनिक सूक्ष्म नाड़ी हैं, जहां से स्थूल इन्द्रियां की सन्धि समाप्त होती है वहा से सूक्ष्म ज्ञान वाहक या गति वाहक तन्तुओं ब्रह्मरन्ध्र गत सूक्ष्म इन्द्रिय तक पहुंचते हैं। सूक्ष्म इन्द्रिय जब इन तन्तु पर आघात करेगी तब प्रागुक्त चित्त से उद्बुद्ध भोगोन्मुख विषय स्थूल-वाह्येन्द्रियों के द्वारा स्थूल रूप में भोग सम्पादन या कार्य सम्पादन करने लगेगा।

जब स्थूल इन्द्रिय किसी वाह्य विषय को ग्राहण करती है, तो उस विषय का सम्वेदन उस सूक्ष्म ज्ञान वाहक या गति वहा तन्तुओं के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच कर सूक्ष्म इन्द्रिय गोलक पर आघात अर्थात् सम्वेदन पहुंचाता है तब फौरन सूक्ष्म इन्द्रियें उस विषय को ग्रहण कर लेती हैं, और उस इन्द्रिय गृहीत विषय को तुरन्त मन ग्रहण करके निश्चय करने के लिये उसे बुद्धिमण्डल को समर्पित कर देता है बुद्धि उसे ग्रहण कर कैसा भी विषय क्यों न हो, निर्णय करके पुनः मन की ओर प्रेरित कर देती है। मन बुद्धि निर्णय कृत विषय के अनुसार इन्द्रिय द्वारा कार्य कराने लगता है और स्वयं भी करता रहता है। अथवा मन समर्पित विषयों को बुद्धि निर्णय करके हृदय देश में स्थित कारण शरीर गत अहंकार को प्रेरित कर देती है। अहंकार बुद्धि निर्णय कृत विषयों को ग्रहण कर मैं मेरा की सील (मुहर) लगा कर चित्त मण्डल को अर्पण कर देता है। चित्त उसे स्व गर्भ में धारण कर लेता है, इसे ही संस्कार कहते हैं। न जाने कितने जन्मों के स्व कृत कर्मों के संस्कार इस रूप में संचित पड़े हैं, कौन गणना करे, जो कि समय-समय पर भोगोन्मुख होकर स्थूल रूप में भोग दिलाने लगते हैं। वे कृत कर्मों के संस्कार ही हमारे वारम्वार जन्म मृत्यु के हेतु बनते रहते हैं। इस अन्तः करण की क्रिया इतनी शीघ्रता पूर्वक सम्पादन हो जाती है कि–"परमाणुवत्परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः" एतादृश लक्षण युक्त काल में ही कार्य सम्पादन होता है। यद्यपि प्रारम्भिक मोटी बुद्धि वाले अभ्यासी उक्त क्रिया कर्मों का निर्णय नहीं कर पाते हैं मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिकों का अस्तित्व प्रत्यक्षगोचर नहीं होता है, परन्तु ध्यानस्थ साधक इन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं, क्योंकि वे वाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं हैं केवल ध्यान तथा समाधि गम्य हैं। प्रथम-प्रथम साधक को ध्यानस्थ अवस्था में पूर्वोक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया कर्मों

को देख कर आश्चर्य तो होगा ही, परन्तु एक प्रत्यय होकर ध्याना-वस्थित रहने से क्रमशः सबका कार्य-व्यापार साक्षात्कार होता जायेगा। अतएव साधक दृढ़ संकल्प होकर ध्यान काल में समाहित चित्त होकर इन तत्त्वों का स्पष्ट साक्षात्कार करता चला जाये, क्योंकि इन तत्त्वों के कार्य-व्यापारों का वर्णन लेखनी में नहीं आ सकता, वे तो केवल ध्यानस्थ होकर "स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते" स्वयं ही अपने अन्तः करणों के द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं। अनुभव करने योग्य हैं। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर का साक्षा-त्कार करने के पश्चात् कारण शरीर का भी साक्षात्कार करें।

पञ्चम अध्याय

– कारण शरीर और उसका साक्षात्कार –

प्रिय साधक वृन्द ! अब तक आप दो दुर्गों का साक्षात्कार करते हुए आये हैं। अब आइए उसके स्वामी के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये तीसरे दुर्ग में भी प्रवेश करें। तीसरा दुर्ग है कारण शरीर-आनन्द-मय कोष। उक्त आनन्दमय कोष गत तत्त्व सूक्ष्म प्राण, अहंकार चित्त और आत्मा हैं। उस आनन्दमय कोष का निवास हृदय देश में है—जो हिरण्यमय कोष, हृदय दहर, हृदय गुहा, हृदय पुण्ड-रीक, हृत् चक्र, हृदयाकाश आदि नामों से प्रसिद्ध है। वहीं आत्मा का अन्तः पुर या शयनकक्ष है। "हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्" आदि मुण्डकोपनिषद वाक्य भी उसी तथ्य का द्योतक है। उस आनन्दमय कोष की स्थिति मानव देह के वक्षः-स्थल के मध्य भाग में दोनों फुफ्फुसों के बीच हृद्देश में है, उक्त स्थान में अर्ध मुखी कमल कलिकाओं के मध्य में मानव का कारण शरीर या आनन्दमय कोष विद्यमान है। उसी कोष के अन्तःस्तल में सूक्ष्म प्राण, अहंकार, चित्त तथा आत्मा की स्थिति है। उन तत्त्वों के कर्म तथा व्यापारों का संक्षिप्त रूप में वर्णन करते हैं।

ये चारों पदार्थ कारण रूप प्रकृति के गर्भ या कोश में रहते हैं इसी लिये इन सब की कारण शरीर संज्ञा है।

-- सूक्ष्म प्राण --

(१) सूक्ष्म प्राण—सूक्ष्म प्राण कहने से बहुधा साधक भौतिक प्राण की ही कोई सूक्ष्मतर अवस्था विशेष समझते हैं, वस्तुतः भौतिक प्राणापानादि के साथ पूर्वोक्त सूक्ष्म प्राण का कोई सम्बन्ध नहीं है। सूक्ष्म प्राण तो आत्मा और चित्त के संयोग सम्बन्ध से प्रादुर्भूत क्रिया शक्ति विशेष है। जिसे जीवनी शक्ति भी कहा जाता है, अर्थात् आत्मा चेतन है और चित्त जड़, उन दोनों जड़ चेतन के संयोग सम्बन्ध से, अथवा चेतनात्मा के संयोग से जड़ चित्त में एक प्रकार की विचित्रता लिये चेतना शक्ति का संचार हो रहा है। चित्त जड़ होते हुए भी चेतन वत् क्रियाशील हो रहा है। जड़ चित्त में जो चेतना सी शक्ति का प्रादुर्भाव है, वही सूक्ष्म प्राण है। वह चेतना शक्ति केवल चित्त तक ही सीमाबद्ध न रह कर अहंमण्डल के बाहर तीव्र गति से निःशरण कर रही है और अहंकार को भी चेतनवत् बना रही है। इस प्रकार से कारण शरीर से ब्रह्मरन्ध्र गत सूक्ष्म शरीरस्थ जितने भी पदार्थ—मन, बुद्धि तथा इन्द्रियादि हैं, उनको भी अर्थात् विज्ञानमय और मनोमय कोषों को भी चेतनता प्रदान कर रही है और वे भी चेतन वत् बन कर कार्यक्षम हो रहे हैं। यह सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर तक अर्थात् प्राणमय और अन्नमय कोष गत पदार्थ मात्र को चेतना शक्ति प्रदान कर रही है, अर्थात् चेतना शक्ति का तीनों शरीर व्यापी संचार हो रहा है। जिस से यह देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि जड़ होते हुए भी चेतना शक्ति के संयोग सम्बन्ध के कारण चेतन वत् बन कर सब प्रकार के कार्य व्यापारों का सम्पादन कर रहे हैं। वही चेतना शक्ति हमारे जीवन का आधार बनी हुई है। जब तक वह बनी रहेगी तभी तक हमारे जीवन का अस्तित्व है, जिस दिन

वह बन्द होगी अर्थात् स्थूल शरीर से संयोग विच्छेद होगा उसी दिन उसी क्षण हमारी जीवन तन्त्री ही बजना बन्द हो जायेगी। उक्त हृदय देशस्थ आनन्दमय कोष से ही हमारी जीवनी शक्ति का प्रसार हो रहा है। वही मानव की जीवनी शक्ति का प्रधान–महान् केन्द्र है। गति तथा क्रिया प्रधान होने के कारण ही उसे सूक्ष्म प्राण के नाम से कहा गया है। उसका रंग रूप कुछ हल्की लालिमा लिये होता है, जैसे उल्कापात् से समय कोई तारिका एक स्थान से दूसरे स्थान तक तीव्र गति से चल कर बुझ जाती है। तारिका के तीव्र गति से जाने के कारण उसमें जो एक ज्योति-धारा बन जाती है ठीक वैसे ही सूक्ष्म प्राण का भी रंग रूप हूबहू मिलता जुलता सा होता है। उस सूक्ष्म प्राण की अव्याहत गति जब से आत्मा का शरीर परिग्रह–देह धारण प्रारम्भ हुआ है तब से असंख्य जन्म जन्मान्तरों तक बनी रही और आगे भी बनी रहेगी, जब तक कि आत्मा का मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि मोक्ष के पश्चात् शरीर त्रय का सर्वथा अभाव हो जाता है। मोक्ष में आत्मा केवल "चिति तन्मात्रेण" चेतन स्वरूप मात्र में या ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो जाता है, अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग का सर्वथा अभाव होना मोक्ष कहा गया है। इस प्रकार से सूक्ष्म प्राण की व्याख्या हुई। इस के आगे अहंकार का वर्णन करते हैं।

-- अहंकार --

(२) अहंकार—"अहंकर्ता अहंकारः" मैं–पन अहंकार में है। अन्यत्राऽप्युक्तम्—"अभिमानोऽहंकारः"॥ सांख्य० २–१६॥ मैं हूँ, मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ, एवम्विध अभिमान को अहंकार कहते हैं। योग शास्त्र में अहंकार की सूक्ष्मतम् अवस्था को अस्मिता भी कहा है, अर्थात् सत्व प्रधान अहंकार ही अस्मिता है। अस्मिता का

द्योतक सूत्र है—"दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" ॥ योग० २-६ ॥ दृग शक्ति-आत्मा और दर्शन शक्ति-चित्त, इन दोनों (जड़ और चेतन) में जो एक अभिन्नता आरोप (मैं-पन) हो रहा है उसे ही अस्मिता कहा जाता है। अहंकार के दो रूप हैं, स्थूल रूप में अहंकार और सूक्ष्म रूप में अस्मिता कहा गया है। परन्तु वह भी व्यष्टि अहंकार का ही नामान्तर मात्र है समष्टि अहंकार का नहीं।

प्रश्न—क्यों जी ! योग दर्शन के सभी टीकाकारों ने दर्शन शक्ति का अर्थ तो बुद्धि किया है, आपका चित्तार्थ लेने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—योग सांख्य के मत में तीन ही अन्तः करण माने गये हैं,—मन, बुद्धि (चित्त) और अहंकार, अर्थात् चित्त को बुद्धि में अथवा बुद्धि को चित्त में अन्तर्भाव करके अन्तःकरण त्रयी माना गया है। इसी लिये टीकाकारों ने भी दर्शन शक्ति का अर्थ चित्त के स्थान में बुद्धि ही लिया है। परन्तु अन्तःकरण चतुष्टय मानने वाले हमलोग बुद्धि से चित्त को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। इसी अभिप्राय से दर्शन शक्ति का अर्थ चित्त लिया है, और तभी अन्तः करण चतुष्टय के कार्य पूर्ण हो पाते हैं अन्यथा संकर दोष आ जाता है। अतएव चार अन्तः करण मानना ही युक्ति संगत है। जैसे कहा है,—"मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तंचेति" मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इन्हें ही अन्तः करण चतुष्टय नाम से कहा गया है। श्रुति में भी कहा है,—"मनसे चेतसे धिय आकूतये"··· ॥ अथर्व० ६-४१-१ ॥ मनस्-मन, चेतस्-चित्त, धी-बुद्धि, आकूटि-अहंकृति-अर्थात् अहंकार,-ये चार अन्तःकरण हैं।

– चित्त –

(३) चित्त—अन्तः करण का अन्तिम तत्त्व चित्त है। चित्त संकोच विकास युक्त है, अर्थात् तीनों गुणों से प्रभावित होकर कभी तो संकुचित होकर अणु के समान बन जाता है और कभी समुद्र के समान उत्तुङ्ग तरङ्गों से युक्त उछलता हुआ ध्यानस्थ साधक को दिखाई देता है। चित्त साधारणतया दस धर्मों से युक्त है। उन में से पांच अवस्थाएं हैं,—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध और पाँच वृत्तियां हैं,-प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति। इन्हीं चित्त वृत्तियों को रोकना या निरोध करना योग कहा गया है। यथा—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" स्पष्टार्थमेतत्। इसी अभिप्राय से दूसरे पाद के २४ वें सूत्र के व्यास भाष्य में कहा है,—"तत्र चित्त निवृत्तिरेव मोक्ष" अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध करके चित्त को अचित्त में परिणत करके फिर आत्मा का स्वरूप मात्र में स्थित हो जाना मोक्ष है। विषय सारूप्य वाला चित्त ही बन्धन का कारण है और उसकी निवृत्ति से मोक्ष होता है। चित्त की परिभाषा इस प्रकार है,—"चिन्तन कर्तृ चित्तम्"। अनन्त जन्म जन्मान्तरों के स्वकृत कर्मों के संस्कारों को समय-समय पर भोगोन्मुख कर देना और इन्द्रियों द्वारा किए कर्मों के तथा भविष्य में किए जाने वाले कर्मों के संस्कारों को स्वगर्भ में धारण कर लेना चित्त का धर्म या कर्म है। उस की संक्षिप्त व्याख्या करनी हो तो इतना ही है कि मनुष्य मात्र ने भूत काल के अनेकों जन्मों में जो-जो कर्म किये हैं और वर्तमान में कर रहा है, अथवा जो किसी भी प्रकार का ज्ञान उत्पादन किया है या अब कर रहा है, जो कुछ भी अनुभव किया है या कर रहा है अथवा भविष्य में करेगा,—वे सब चित्त में अति सूक्ष्म रूप में बीजाङ्कुर शक्ति की तरह या वस्त्र में

रञ्जन रेखा की नाईं अथवा पुष्पों में गन्ध के सदृश अङ्कित होते जा रहे हैं, या संचित होते जा रहे हैं । इसी का नाम वासना या संस्कार है। उन में जो-जो संस्कार ज्ञानज, अर्थात् अनुभव के द्वारा संचित किये गये हैं ये संस्कार मोक्ष का हेतु बनते हैं। जो-जो संस्कार कर्मानुष्ठान द्वारा उत्पन्न हुए हैं, वे सब कर्म वासना का विपाक अर्थात् भविष्य में फल–जन्म, जरा, मृत्यु, आयुर्भोग एवं तदनुगत सुख–दुःख व मोहादि को उत्पन्न करते रहते हैं। कृत कर्मों का संस्कारों के अनुसार तत्तत् फल भोग करना ही पड़ता है। इदृश चित्त धर्म अथवा संस्कारों को धर्माधर्म, पाप–पुण्य, अशुभ दृष्ट व शुभादृष्ट नाम से कहा गया है ।

अब पूर्व वर्णित तत्त्वों का साधक ध्यानस्थ अवस्था में स्पष्ट रूप में साक्षात्कार करे, अर्थात् जब सूक्ष्म शरीर गत तत्त्वों का मन, बुद्धि तथा इन्द्रियादिकों का सूक्ष्माति सूक्ष्म तारतम्य के साथ क्रिया व्यापारों का विस्पष्टतया साक्षात्कार हो जाये, उसके पश्चात् ध्यानस्थ साधकों को चाहिये कि हृदय देशस्थ हृदय दहर पर ध्यान दृष्टि को धीरे से डाले। प्रथम-प्रथम साधक को ध्यान दृष्टि हृदय देश में डालने पर यदि ठीक लक्ष्य से किंचित मात्र इधर-उधर हेर फेर हो जाय तो पहले हृदय देशस्थ मांसल पिण्डों का ही दृष्टि गोचर होने लगता है और कभी-कभी तीव्र गति से बह रहा शोणित धाराओं का प्रत्यक्ष होता है। जिसे देखकर बहुधा प्रारम्भिक साधक आश्चर्य चकित एवं भयान्वित हो उठते हैं। जब ठीक लक्ष्य पर ध्यान दृष्टि जा पहूँचेगी तब हिरण्यमय कोश में स्थित तत्त्वों का पुञ्ज चमकता हुआ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगेगा है।

हृदय देश में ध्यान करने से सर्व प्रथम ध्यानावस्थित साधक को सूक्ष्म प्राण का ही दर्शन होगा। उसका रंग रूप टूटती

तारिका अथवा वायु के रगड़ से स्थानान्तरित तारिका की ज्योति रेखा सी दीख पड़ती है ठीक उसी प्रकार मिलती जुलती तीव्र धारा सी दिखाई पड़ती है । वही आप की जीवनी शक्ति है, जिसे हम सूक्ष्म प्राण के नाम से पहले ही वर्णन कर आये हैं । उस सूक्ष्म प्राण के उद्गम् स्थान तक ध्यान की दृष्टि डालने पर यह अहं मण्डल के बीच होकर गुजर रहा मालूम होगा । इस प्रकार से सूक्ष्म प्राण की गति विधि एवं क्रियाओं को स्पष्ट साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् ध्यान दृष्टि को आगे गहराई की ओर फैंके । तब अहंकार मण्डल का साक्षात्कार होने लगेगा । उसका रंग रूप साधारणतः हल्की नीलिमा लिये होता है, हाँ, रजस्सत्वादि गुणों के प्रभाव से कुछ बदलता भी है । वही अहं भाव से पूर्ण अहंकार मण्डल है ।

साधक ध्यानस्थ अवस्था में यह देखने के लिये प्रयत्न करें कि अहंकार किस रूप में सूक्ष्म प्राण को सूक्ष्म शरीर की ओर उत्क्षेपण कर रहा है । उसे ग्रहण करते समय किस प्रकार की गति या क्रिया होती है । आदान तथा प्रत्यादान के समय किस प्रकार कार्य या व्यापार होता है, और वह बुद्धि निर्णीत विषयों को किस रूप में ग्रहण करता है । ग्रहण करते समय कैसी विचित्र सी हल--चल व गति विधि होती है । इसका स्पष्ट साक्षात्कार ध्यानस्थ साधक ऊहा--पोह, तर्क--वितर्क पूर्वक स्वयं करें । यहां इस बात का भी ध्यान रक्खें कि प्रत्येक तत्त्व के गुणत्रय से अन्वित होने के कारण गुणों की अत्यधिक न्यूनाधिकता के अनुसार उनका रंग रूप भी बदलता रहता है । इनके सूक्ष्मतम तारतम्य का ध्यानस्थ होकर प्रत्यक्ष करें । इस प्रकार से अहंकार के सम्पूर्ण कार्य--व्यापार, गति--विधि, एवं रंग-रूपों का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् ध्यान दृष्टि को और गहराई पर डालिये, जहां चित्त रूप दर्पण पर झलक रहे आत्मा का साक्षात्कार होता है ।

चित्त ही एक ऐसा स्वच्छ व पारदर्शी दर्पण है जो आत्मा को स्पष्ट रूप में दिखाने में समर्थ है। आप उसे यों समझिये कि जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता तो सर्वत्र ही है, जैसे नदी, पर्वत, सागर, तालाब, झील, बन तथा पाषण शिला खण्डों में समभाव से से ही पड़ता है, परन्तु बन, पर्वत तथा शिला खण्ड आदियों में उसके प्रतिबिम्ब का दर्शन नहीं होता, केवल स्वच्छ तालाव या स्थिर जलाशय में ही इस प्रतिविम्ब का दर्शन होता है। इसी प्रकार चेतन तत्त्व के शरीर में रहने पर भी सर्वत्र उसका दर्शन नहीं होता, केवल चित्त रूप दर्पण में ही उस चेतन तत्त्व का दर्शन होता है। जब तमोगुण का प्राधान्य होता है उस समय चित्त का रंग रूप धूसर या धुंधला सा मेघ खण्डों के समान हो जाता है और गति या क्रिया भी मन्थर सी, निष्क्रिय सी हो जाती है। उस काल में साधक को विशेषतः कोई ज्ञान विज्ञान स्पष्टतया नहीं होता, तमः आक्रान्त होने के कारण अन्धकार सा बना रहता है। रजोगुण बहुलता में श्वेतिमा लिये हिमखण्डों के सदृश होता है और जैसे दर्पण पर पड़े सूर्य का प्रकाश चमकता है ठीक वैसा ही चित्त की ज्योतियों की हिलोरों से ध्यानस्थ साधक चकाचौंध हो जाता है। मानो चित्त रूपी समुद्र में उत्तुङ्ग तरङ्गे ही उछल रही हों। उस अवस्था का कैसा अवर्णनीय, अकथनीय, विस्मयास्पद मनोरम दृश्य है! जिसे देख कर वेचारा साधक आश्चर्य चकित रह जाता है, वाणी भी मूक हो जाती है--कैसे उसका वर्णन कर सके। सम्भव है ऐसी अवस्था की कल्पना करके ही कवि के कण्ठ से यह शब्द निकले होंगे, यथा—

"धन्यानांगिरि कन्दरे निवसतां ज्योतिः परः—
ध्यायता, मानन्दाश्रु कणान् पिवन्ति शकुनानिशङ्कमङ्केशयाः ।

अस्माकं तु मनोरथोपर चित्त प्रासाद वापीतटे, क्रीड़ा काननकेलि-कौतुक जुषामायुः परं क्षीयते" ॥

तत्वज्ञानी विवेकी पुरुष तो इस संसार की असारता को देख कर इस से विरक्त होकर वन को चले गये। पर्वत की गुहा कन्दराओं में जा कर निवास करने लगे और "ज्योतिषां ज्योतिः" ब्रह्म ज्योति के ध्यान में तन्मय होकर समाधि दशा को प्राप्त हो गए। अहो ! उस समाधि अवस्था का उदय होते ही उनकी आंखें नीमिलित हो गईं, हाथों की उंगलियां बद्ध मुद्रा हो गईं और बाह्य जगत् का तो क्या मान होना था अपने शरीर की भी सुध-बुध न रही। जिन के आनन्दाश्रुओं के जल--बूंद को विहङ्गगण निःशङ्क गोद में बैठ कर पीते हैं, वे ही योगीजन संसार में धन्य हैं। हमारी अवस्था तो केवल मनोरथ ही के मन्दिर में बनी बावड़ी के तट पर जो क्रीड़ा कानन है उस में लीला करते ही क्षीण होती जा रही है। हमें बार-बार धिक्कार है" अर्थात् विवेकी पुरुष तो संसार बंधन रूप जञ्जीर को तोड़ कर बन्धन गृह का त्याग कर बनवासी बने, और निरन्तर ब्रह्म ज्योति का ध्यान करते-करते सदा के लिये मोक्ष सुख के भागी बने, और हम तो संसार रूप नरक कुण्ड के क्षण भङ्गर सुख-दुःख रूप बुलबुलों में पड़ कर कुलबुला रहे हैं। अब इस से मुक्त होने का क्या उपाय हो सकता है ? हम स्वयं इसका निर्णय नहीं कर पाते हैं, अतः इसके लिये ऋषि कहते हैं, कि— "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत" ॥ कठो० ६-१४ ॥ (हे मनुष्यों ! इस संसार रूप नरक में पड़ कर क्यों बृथा समय नष्ट कर रहे हो ?) उठो, जागो, और आत्मज्ञ पुरुषों के संसर्ग से परमात्मा को सम्यक प्रकारेण जानो, और उस परमात्मा को प्राप्त होकर उस अजरामर मोक्षधाम को प्राप्त करो।

साधकों ! बीच में लटके रहने से क्या लाभ ? न इधर न उधर, अतएव निम्न कथित वेद वाक्य का स्मरण करते हुए उद्यम उत्साह से भरे जाग उठो, यथा—"अगन्म ज्योतिरमृताऽअभूम्" शु० यजु० ८–५२ ॥ निश्चय जानो हम उस आत्म ज्योति को अवश्य ही प्राप्त करेंगे, और उसे प्राप्त हो कर जन्म मृत्यु रूप आवागमन से सर्वथा प्रमुक्त हो जायेंगे । अब गोताखोर बन कर लगाईए गोता चित्त रूपी समुद्र में आत्मा रूपी मोती ढूंढ़ने के लिये । पहले–पहले आपको यह असाध्य सा ही जान पड़ेगा, चित्त पर ध्यान दृष्टि को फेंकने पर चित्त की ज्योति रूपी तरङ्गों में टकरा कर ध्यान दृष्टि इधर–उधर बिखर जायेगी । रजस्तमोगुणों की न्यूनता एवं सत्व की अधिकता होने पर अर्थात् सत्व गुण अधिक बढ़ जाने पर जब चित्त प्रकम्पन्न तथा चित्तस्थ ज्योतियों की उत्ताल तरङ्गों का प्रशमन हो जाता है, और चित्त की चंचलता मन्थर हो जाती है उस काल में आत्मा और चित्त के संयोग सम्बन्ध का हेतु प्रादुर्भूत ज्ञान और क्रिया का उद्गम रहस्य स्पष्ट रूप में साक्षात्कार होने लगता है । कारण कि दृग्-शक्ति और दर्शन-शक्ति के संयोग सम्बन्ध से दो चीज उत्पन्न हो रही हैं, ज्ञान और क्रिया । ज्ञान जानने की शक्ति विशेष को कहते हैं तथा ज्ञान का तात्पर्य प्रकाश भी है ।

क्रिया का वर्णन तो हम पहले ही सूक्ष्म प्राण के नाम से कर आये हैं । रजस्तमोगुण का गौण होकर सत्व गुण का प्राधान्य होने पर भी चित्त में कुछ न कुछ कम्पन सा बना ही रहता है, जो कि आत्म दर्शन के लिये बाधक बन जाता है । जैसे वायु के सम्पर्क से तालाब के पानी में लघु लहरें सी बनी रहती हैं और उस समय यदि जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब का दर्शन करना चाहें तो वह झिल मिल सा ही दिखाई देता है, चन्द्रमा का स्पष्ट दर्शन नहीं

होता। इसी प्रकार चित्त की ऐसी अवस्था में भी आत्म-दर्शन नहीं होता है। परन्तु हटिए नहीं, वैदिक मन्त्र आदेश देता है,— "आरोह तमसो ज्योतिः" ॥ अथर्व० ८-१-८ ॥ तमो ग्राह से छूट कर कर महान् ज्योति में प्रवेश करो, अर्थात् हे मुमुक्षु ! आत्म-दर्शन के जो प्रतिबन्धक आवरण पड़े हैं उन्हें ध्यान रूप सिंह-बल से फाड़ डालो, उसे भेदन कर अन्दर प्रवेश करो और वह जो अदूर में ही दिव्य ज्योति (आत्म ज्योति) जगमगा रही है उस परम ज्योति में प्रवेश कर जाओ। साधक ! इस समय सत्व गुण को अधिक बढ़ा देवे, और शान्त चित्त होकर चित्त की गहराई में ध्यान दृष्टि को डाले। जब चित्त प्रशान्त तथा चपलता शून्य स्थिर हो जाता है तब उस चित्त रूप दर्पण पर दमकता हुआ आत्म साक्षात्कार होता है। साधक को उस स्वरूप को प्रत्यक्ष देखकर रोमांच हो जाता है और वह एक अकथनीय-अवर्णनीय एवं अनिर्वचनीय सी अवस्था का अनुभव करने लगता है। साधक गद्-गद् हो जाता है एवं आनन्दाश्रु बहने लगते हैं। अपने वास्तविक स्वरूप को देख कर साधक को कुछ स्मरण भी आने लगता है कि अहो ! अद्या-वधि में शरीर को ही आत्मा समझ कर उसी की सेवा में लगा रहा, उसके मोह से फंसा रहा। अब मैंने स्पष्ट देख लिया, मैं तो इन से भिन्न ही हूँ। यह जो चित्त है वह आत्मा से सर्वथा भिन्न है और जड़ है, इस से भिन्न वह आत्मा जो मेरा ही स्वरूप है वह चेतन व अपरिणामी है। इसी को 'विवेक ख्याति' कहते हैं। अब तो मैं अपने ही स्व-स्वरूप में स्थित होता हूँ इसका ही नाम परमवैराग्य है। इस प्रकार सत्व प्रधान अहं वृत्ति द्वारा सब वृत्तियों को हटाता जाये, अन्त में जैसे अग्नि समिधाओं को जला कर अन्त में स्वयं भी बुझ जाती है वैसे ही रजस्तमोगुण के दब जाने पर सत्व भी कार्य में असमर्थ होकर निष्क्रिय सा होकर रह जाता

है। उस काल में आत्मा की स्व स्वरूप में स्थित होती है। इसी को स्वरूप स्थिति या स्वरूप प्रतिष्ठा कहते हैं, अर्थात् उस काल आत्मा वृत्ति-सारूप्य अथवा चित्त-सारूप्य न रह कर केवल--"स्वरूपमात्र ज्योतिरमलः केवली पुरुषः" ॥ योग० व्यास भाष्यम् ॥ चैतन्य स्वरूप मात्र में स्थित हो जाना ही पुरुष की कैवल्य अवस्था कही जाती है। अन्यत्र भी कहा है,—"समाधि सुषुप्ति मोक्षेषुब्रह्म-रूपता" ॥ सांख्य० ५--११६ ॥ समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में पुरुष की ब्रह्म के समान रूपता अर्थात् उसके स्वरूप में स्थिति होती है। तथा चोक्तम्,—"स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चित्तिशक्तिर्यथाकैवल्ये" योग० व्यास भाष्यम् ॥ कैवल्य मुक्ति में प्रकृति और प्रकृति के कार्यात्मक पदार्थों के सम्बन्ध से मुक्त हुआ चेतन–पुरुष परमात्मा के स्वरूप में स्थित होता है। इसी प्रकार चित्त वृत्ति निरोध काल में इसकी परमात्मा में स्थिति होती है। इस स्वरूप स्थिति के पश्चात् जब व्युत्थान होगा, उस समय आत्मा की क्या स्थिति होती है? योग सूत्र कार ने इसका उत्तर इस रूप में दिया है,—"वृत्तिसारूप्यमितरत्र" ॥ योग० १–४ ॥ इस सूत्र का अर्थ व्यास भाष्य में इस प्रकार किया है, यथा—"व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्त-दविष्ट वृत्तिः पुरुषः" ॥ व्युत्थान (बहिर्मुखी) अवस्था में चित्त की जो–जो वृत्तियां होती है, पुरुष उन (वृत्तियों) से अभिन्न स्थिति वाला होता है। परन्तु यह न समझिये कि योगी समाधि से अर्थात् स्वरूप स्थिति से व्युत्थित होने पर भी साधारण मनुष्यों के समान काम, क्रोध, लोभ तथा मोहादि युक्त होता हो। किन्तु इन से अत्यन्त विलक्षता लिये ही व्युत्थान होता है, जैसा आत्म वेत्ता महापुरुषों का होना चाहिये वैसा ही होता है। यही परम पुरुषार्थ है।

प्रश्न—क्यों जी! योग के विषय में आरम्भ से लेकर स्वरूप स्थिति तक तो आपने बतला दिया परन्तु समाधि का नाम तक नहीं लिया, इसका क्या कारण है? क्या समाधि लगे बिना भी आत्म दर्शन या स्वरूप स्थिति हो सकती है?

उत्तर—नहीं, अब तक जो अतीन्द्रिय पदार्थों को तथा आत्म साक्षात्कार के विषय में बतला आए हैं उन पदार्थों का साक्षात्कार ध्यान समाधि की अवस्था में ही तो होता है न की जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में।

प्रश्न—क्या इतने में ही आत्म दर्शन करने का साधन समाप्त हो जाता है अथवा और कुछ बाकी है?

उत्तर—अवश्यमेव। यह तो आत्मसाक्षात्कार करने का संक्षिप्त रूप में एक छोटा सा मार्ग बतला दिया गया है, जिससे केवल चित्त गत व्यष्टि चेतन का ही साक्षात्कार होता है, और व्यापक समष्टि चेतन (ब्रह्म) तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिये ब्रह्मयोग का अवशेष रहता है। जैसे कहा है,—"जीवात्मसाक्षात्कारोत्तरमपि परमात्म साक्षात्कार्थिनः परमात्मयोगापेक्षणाच्चेति" ॥ विज्ञान भिक्षु ॥ तात्पर्य यह कि जीवात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर भी जिन्हें परमात्मा के साक्षात्कार की अपेक्षा है उन्हें ब्रह्म योग की आवश्यकता है।

प्रश्न—यदि आत्म दर्शन कर लेने पर भी ब्रह्म दर्शन की अपेक्षा रहती है तो क्या आत्म दर्शन होने पर भी योगी को मोक्ष नहीं होता?

उत्तर—हाँ, होता है यदि व्यापक चेतन (ब्रह्म) के साक्षात्कार करने की अभिलाषा न हो। आत्म दर्शन होने पर परम वैराग्य से ही आत्मा की स्वरुपस्थिती हो जायगी, अर्थात् मोक्ष हो जायगा। जो योगी योगानुष्ठान आदि द्वारा आत्मदर्शन कर चुके हैं, वे देहान्त पर्यन्त जब तक शरीरालम्बन किए रहते हैं जीवन्मुक्त पुरुष कहलाते हैं। देहान्त के पश्चात वे सीध मोक्ष को चले जाते हैं, उन्हें पुनः बन्धन नहीं होता, क्योंकि आत्म दर्शन होने के साथ-साथ सारे क्लेश व वन्धन संस्कार दग्ध बीज होकर नष्ट हो जाते हैं। शास्त्र में भी कहा है,—"तद-भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः" ॥ वैशेषिक ५-२-१८॥ इस का तात्पर्य यह है कि जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं होता तब तक मिथ्या ज्ञान का अभाव नहीं होता और सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा का संयोग सम्बन्ध वना ही रहता है, जिससे दूसरे शरीर में भी जाना आवश्यक रहता है। परन्तु जब आत्म साक्षात्कार हो जाता है तब मिथ्या ज्ञान का भी नाश होकर निश्च-यात्मक ज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है उस काल में सारे क्लेश और संस्कारों का वीज दग्ध हो जाता है, उसके साथ-साथ बाह्य प्रवृत्ति का भी अभाव हो जाता है। जब कर्मों का फल जो प्राण और मन का शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर में ले जाने का कारण था वह नष्ट हो गया तो फिर शरीर का उत्पन्न होना ही बन्द हो गया, तब आत्मा परमात्मा के स्वरुप में स्थित हो जाता है, बस यहीं मोक्ष है। इसीं का नाम मुक्ति या कैवल्य है। जो योगी या ज्ञानी चित्त गत व्यष्टि चेतन

(आत्मतत्व) का पूर्णरीत्या साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् व्यापक समष्टि चेतन (ब्रह्मतत्व) का भी पूर्णतः साक्षात्कार कर चुका है वह देह त्याग करते ही ब्रह्म में स्थित होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है। जैसे कहा है,— "चाऽकामीनिष्कामआप्त काम आत्माकामो न तस्या प्राण उत्क्रमन्ति ब्रह्मैवसनब्रह्मप्येति" ॥ बृहदारण्यक० उ० ४–४–६ ॥

जो सर्व कामनाओं से निवृत हो चुके है जिन की कामना पूरी हो गई है या केवल आत्म कामना है, उन के प्राण नहीं निकलते वह यही ब्रह्म में स्थित होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है। "नान्यःपन्था"—इससे और दूसरा मार्ग मोक्षका नहीं है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(समाप्तोऽयं ग्रन्थः)